❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष २ Year 2

अङ्क ४ Number 4

श्री रामचन्द्र मिशन, शाहजहाँपुर, उ० प्र०
(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मंडल
काशीराम अग्रवाल, तिनसुकिया (आसाम)
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३)] [एक अंक का १)

प्रकाशक—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेंट, शाहजहांपुर
उत्तर प्रदेश (इन्डिया)

विषय सूचीः—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—सम्पादकीय		२
३—वेद	समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी, फतेहगढ़	८
४—लक्ष्य और साधन	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्रीरामचन्द्र मिशन	१३
५—अनन्त यात्रा		१७
६—भजन	कबीरदास	२२
७—सहज मार्ग की साधना	काशी राम अग्रवाल	२३
८—'जाने क्या बात है साक़ी, तेरे मैखाने में' (ग़ज़ल)	परिव्राजक विष्णु जी विष्णु स्वामी 'सदा'	२६
९—विश्वास और बुद्धि	कु० केसर चतुर्वेदी, एम. ए., एल. टी. लखीमपुर–खीरी	३०
१०—वैराग्य	कु० कस्तूरी चतुर्वेदी 'सन्ध्या' लखीमपुर–खीरी	३२
११—गुरुस्तवनम्	स्वामी विवेकानन्द	३२
12–The Problem : Its Solution	Shri Ram Chandra Ji, President, S.R.C.Mission	33
13–Religion & Spirituality	Shri Ishwar Sahai, Lakhimpur-Kheri	37
14–The System of Sahaj Marga	Shri Raghavendra Rao, Gulbarga, Mysore	44
15–Being and Becoming	Dr. K.C. Varadachari, M.A. Ph. D., Tirupati, S. I.	49
I6–The Phenomenon of Samadhi	S. P. Srivastava, Lakhimpur-Kheri	53
17–Experiences of an Abhyasi	An Abhyasi	59

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान--लाभ करो !)

वर्ष २ पौष सम्बत् २०१५ विक्रमी (दिसम्बर १९५८ ई० / जनवरी १९५९ ई०) अङ्क ४

प्रार्थना

हे नाथ तूही मनुष्य–जीवन का ध्येय है ।
हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं ।
तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है ।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

व्यक्तित्व वाले लोगों की समष्टि की अपेक्षा है । अतः यह सुस्पष्ट है कि हमारी आधुनिक समस्याओं की दृष्टि से 'मोक्ष' का आदर्श अनुपयोगी नहीं है ।

'मोक्ष' का प्रत्यय निःसन्देह कई कारणों से रहस्यात्मक और दुर्बोध रहा है, जिसका उत्तरदायित्व उसे व्यावहारिक साधना के स्तर पर ग्रहण न कर के केवल पांडित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने वालों पर है । इसी दुर्बोधता के परिणामस्वरूप उत्पन्न कुछ भ्रान्तियों का निराकरण कर लिया जाना चाहिए ।

(१) मोक्ष की स्थिति निष्क्रियता की स्थिति कही जाती है । जो किसी बात से विचलित नहीं होता, और जो किसी व्यक्ति या वस्तु को विचलित नहीं करता, जो आशा, हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध आदि से परे है उसे अनेक मानवतावादी लोग जड़ पाषाण की संज्ञा प्रदान करने को तैयार हो जायेंगे । किन्तु आवेगों, अभिवृत्तियों आदि पर नियंत्रण प्राप्त कर लेने का अनिवार्य अर्थ निष्क्रियता नहीं। भारतीय संस्कृति के इतिहास में बुद्ध और कृष्ण आदि अनेक ज्ञात और अज्ञात व्यक्तियों के उदाहरण वर्तमान हैं, जिनके द्वारा मुक्ति के आदर्श की प्राप्ति के बाद महान कार्य सम्पन्न हुए । वास्तविकता यह है कि ऐसे आदर्श को प्राप्त कर लेने वाला व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन अधिक दक्षतापूर्वक करता है, किन्तु वह उनके भार और बन्धन से मुक्त होता है, क्यों कि उसका दृष्टि कोण इतना विस्तृत हो जाता है कि वैयक्तिक स्वार्थों की प्रेरणा के प्रति उसका कोई मोह शेष नहीं रहता । यह बात मोक्ष प्राप्ति के साधन पर विचार करते समय अधिक स्पष्ट होगी ।

(२) 'मोक्ष' के विषय में दूसरी भ्रांति यह है कि चेतना की ऐसी स्थिति मृत्यु के बाद प्राप्त होती है । यहां वास्तविक मनोवैज्ञानिक समस्या के संदर्भ में 'मोक्ष' का महत्व विकसित किया गया है अतः केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि बुद्ध, कृष्ण, कबीर, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, और स्वामी विवेकानन्द आदि अनेक व्यक्तियों के उदाहरण हैं, जिन्होंने चेतना की उस प्रशान्त स्थिति का अनुभव शारीरिक अस्तित्व के नष्ट होने से पूर्व ही किया है ।

'शरीर की क्रिया के अवसान के बाद व्यक्ति का अस्तित्व किसी रूप में शेष रहता है या नहीं'—इस प्रश्न को अभी अलग ही छोड़ देना चाहिए, क्योंकि यहाँ हम इहलौकिक जीवन की वास्तविक समस्याओं की दृष्टि से ही विचार कर रहे हैं । एक बात की ओर इंगित कर देना अनुचित न होगा कि शरीर के विश्रंखलन के स्थूल अर्थ के अतिरिक्त 'मृत्यु' का एक आलङ्कारिक अर्थ भी हो सकता है । भाव, आवेग, अभिवृत्ति, अभ्यास आदि के द्वारा नियन्त्रित होने वाले व्यक्तित्व की मृत्यु हो जाने पर प्रशान्त चित्त की स्थिति प्राप्त होती है । पाश्चात्य नीति शास्त्र में हीगेल द्वारा प्रतिपादित 'जीवन के लिए मृत्यु का वरण करो' के सिद्धांत में मृत्यु शब्द का इसी आलङ्कारिक अर्थ में प्रयोग हुआ है । किन्तु शारीरिक मृत्यु के बाद व्यक्ति के अस्तित्व की समस्या वैज्ञानिक दृष्टि से निःसन्देह महत्वपूर्ण है; और आधुनिक विज्ञान अपने ढङ्ग से उसको सुलझाने के लिए प्रयत्नशील है । इस समस्या के विशिष्ट वैज्ञानिक ढङ्ग से सुलझाव के प्रयास में सफलता प्राप्त होने से पूर्व सच्चे वैज्ञानिकों को उसके प्रति खुला मस्तिष्क रखना ही उचित है ।

(३) आधुनिक मनोविज्ञान की व्यक्तित्व–संघटन की व्यावहारिक समस्या के संदर्भ में 'मोक्ष' का महत्व प्रदर्शित किये जाने के परिणामस्वरूप एक भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है कि मोक्ष–प्राप्ति की प्रक्रिया विबोध[1] द्वारा आवेगों, अभिवृत्तियों आदि के नियमन या समायोजन की प्रक्रिया है, जैसी कि मनोविश्लेषण[2] में इस्तेमाल की जाती है । दोनों प्रक्रियाओं में एक मौलिक भेद यह है कि मनोविश्लेषण में बुद्धि द्वारा भौतिक एवं सामाजिक यथार्थ के साथ चेतन और अचेतन आवेगों, इच्छाओं, अभिवृत्तियों आदि का समायोजन प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है, जबकि भारतीय साधना में चेतना के एक ऐसे वास्तविक स्तर का अनुभव प्राप्त होता है, जहाँ आवेग, इच्छाएँ, अभिवृत्तियाँ और बौद्धिक तर्क वितर्क आदि सभी अपनी स्वामित्व–प्रवृत्ति स्वतः खो बैठते हैं, यद्यपि उन में उपयुक्त अवसर पर अपना उपयुक्त कार्य करने की शक्ति शेष रहती है; बल्कि पारस्परिक संघर्ष समाप्त हो जाने पर उनके स्वस्थ रचनात्मक कार्य में वृद्धि हो जाती

1. Reason 2. Psychoanalysis

है । उदाहरणार्थ संघर्ष में संलग्न व्यक्तियों या राष्ट्रों के बीच सन्धि-स्थापन का एक प्रयास विरोधी दलों की माँगों में समझौता स्थापित कर के हो सकता है, जो आन्तरिक तनाव[1] को दूर नहीं कर सकता; किन्तु कोई वास्तविक उच्चतर उद्देश्य सामने आ जाने पर व्यापक दृष्टि उत्पन्न हो जाती है, जिस के परिणाम स्वरूप विरोध की प्रवृत्ति का स्थान अत्यन्त स्वाभाविक रीति से सहयोग की प्रवृत्ति ले लेती है। अब वह उच्चतर उद्देश्य यदि वास्तविक न हो कर इन्द्रजाल[2] मात्र हो, तो उसके द्वारा उत्पन्न संघटन भी स्थायी और स्वस्थ न होगा। अनेक उदात्तीकरण[3] इसी कोटि के हो सकते हैं। किन्तु चेतना का जो उच्चतर स्तर—योग की 'निरुद्ध चित्त भूमि' और बौद्ध 'सम्म समाधि' की अन्तिम चतुर्थ अवस्था आदि—भारतीय साधना पद्धति में उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है, वह वास्तविक है। इस का प्रमाण बुद्ध, पतञ्जलि, शङ्कर आदि के आप्तवचन[4] हैं, जिन्हें मज़ाक बना कर टाला नहीं जा सकता। और इससे भी बड़ा प्रमाण यही है कि जिसे भी संदेह हो, उस सुनिश्चित प्रक्रिया का अनुसरण करके चेतना के उस उच्चतर स्तर का ऋजु[5] अनुभव प्राप्त कर ले। प्रयोगात्मक विधि द्वारा प्राप्त किसी भी वैज्ञानिक सत्य का प्रामाण्य इसी प्रकार निश्चित किया जाता है।

(४) अन्त में मानव जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में 'मोक्ष' के स्वरूप के विषय में एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है। मोक्ष की अवस्था का वर्णन 'दुःख के अत्यन्त अभाव' के रूप में किया गया है। 'दुःख' शब्द को साधारण प्रचलित अर्थ में ग्रहण करने पर मोक्ष सुख अथवा आनन्द की अवस्था मानी जायेगी। किन्तु 'विवशता से मुक्ति' के अर्थ में मोक्ष साधारण अर्थ में सुख अथवा आनन्द की स्थिति नहीं होनी चाहिए, क्यों कि सुख और आनन्द स्वयं बन्धन और विवशता उत्पन्न करता है। अतः 'दुःख' शब्द का एक व्यापक अर्थ 'बन्धन' लिया जाता है। यहाँ हमने 'मोक्ष' शब्द 'विवशता के अत्यन्त अभाव' के अर्थ में ही लिया है। सामान्यतः इसी अर्थ में 'मोक्ष' मानव जीवन का चरम उद्देश्य माना जाता है, क्यों कि

1. Internal tension 2. Jugglary 3. Subbimations
4. Authority 5. Direct

इस प्रकार का उद्देश्य अपने समक्ष रखने और उसे प्राप्त करने की सम्भावना का विकास 'मनुष्य' में ही होता है। किन्तु मानव के विकास की सम्भावना के आगे कोई विराम चिन्ह लगा देना मानव की अनन्त गरिमा के प्रति अनास्था व्यक्त करना है। मानव की महानता असीम है। मानव की वर्तमान स्थिति विवशता की है, अतः उसका निकटतम लक्ष्य 'विवशता के अत्यन्त अभाव' के अर्थ में 'मोक्ष' मानना उचित ही है। किन्तु 'विवशता का अभाव' अथवा 'संघटित व्यक्तित्व' तो किसी उच्चतर अर्जन की अनिवार्य शर्त ही हो सकता है, न कि अपने आप में कोई लक्ष्य। सहज मार्ग साधना पद्धति में 'मोक्ष' को मानव जीवन के निम्नतम और निकटतम लक्ष्य के रूप में ही स्वीकार किया गया है। ज्ञान और कार्य के क्षेत्र में मानव की सम्भावनाओं की वास्तविक उपलब्धि[1] तो बन्धनों से मुक्ति के बाद ही प्रारम्भ होती है, क्यों कि उड़ान तो पङ्ख खुलने के बाद ही होती है। 'पूर्णता' के आदर्श और 'मोक्ष' की अवस्था के बीच की स्थितियों की ओर श्री रामचन्द्र मिशन के संस्थापक-अध्यक्ष श्रद्धेय 'बाबू जी' ने अपनी पुस्तक 'Reality at dawn' के दूसरे अध्याय में इङ्गित किया है। यहाँ हम इतना ही कहेंगे कि मानव जीवन के चरम लक्ष्य के विषय में यह दृष्टिकोण मानव की अनन्त, असीम गरिमा का परिचायक है। एक उर्दू कवि के शब्दों में—

ख़याले-जाने-जाँ गर है, तो हर रफ़ाअत को ठुकरा दे
नज़र की हद सही, परवाज़ की हद आस्माँ क्यों हो !

[यदि प्रियतम अर्थात् चरम परम लक्ष्य की प्राप्ति का विचार है, तो प्रत्येक ऊँचाई को ठुकरा कर आगे बढ़। आकाश दृष्टि की सीमा भले ही हो, उड़ान की सीमा नहीं।]

—सम्पादक

●●●

1. Realization

वेद

(समर्थ गुरु श्री रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

[गताङ्क से आगे]

श्रुति मोहताज[1] नहीं है, स्मृति मोहताज है। श्रुति का कोई व्यक्ति खंडन नहीं कर सकता, और स्मृति का खण्डन हो सकता है। श्रुति अपना आप सुबूत[2] है, इसलिए किसी की सनद[3] की जरूरत नहीं। स्मृति अपना आप कमतर सुबूत है, अतः सनद अर्थात् दूसरे के हवाले की जरूरत है। श्रुति कभी तब्दील नहीं होती, श्रुति हमेशा तब्दील होती रहती है। श्रुति ध्वन्यात्मक होने के कारण ध्वनि मात्र है; और स्मृति ध्वनि की की नक़ल या मसनूइ[4] होने के कारण हर्फ़[5], लफ़्ज[6], ज़ुबान[7] और लहजा[8] की मोहताज है, इस लिए वर्णात्मक है। वर्ण हर्फ़ या अक्षर को कहते हैं। श्रुति में इब्तिदाई असर[9] पैदा करने का है, जिसका अर्थ ख़ुदा की आज्ञा है। श्रुति में असर फ़ना[10] का है, जो क़यामत[11] के समय आवाज़ होगी। यह शब्द रमा हुआ हर जिस्म का पालन पोषण कर रहा है। लफ़्ज़ 'श्रुति' का यह जौहर मानी–ख़ेज़–मतलब[12] है जो केवल ध्वन्यात्मक है। यह एक राज़[13] है जो बाख़बर लोग ही जान सकते हैं। आलमे–ज़ाहिर[14] और आलमे इम्बात[15] के लोग क्या समझें, मगर यह ध्वन्यात्मक शब्द को ख़याल की मुनासिबत[16] से उसके अर्थ और सूरते–ज़ाहिरी[17] जो पैदा कर सकें कर सकते हैं जैसे 'अल्लाह रे तेरी क़ुदरत', 'लहसुन प्याज़ अदरक', 'मलमल तनजेब कमरक', 'चुप रह मुर्दक'।

श्रुति–ध्वनि का एक नाम और भी आया है, जिसको 'उद्गीत' कहते हैं। 'उद्' अर्थात् 'उधर का' गीत यानी ज़ात[18] का और

१–आश्रित २–प्रमाण ३–प्रमाण पत्र ४–निर्मित ५–अक्षर ६–शब्द ७–भाषा ८–उच्चारण ९–प्रारम्भिक प्रभाव १०–मिटना ११–महाप्रलय १२–अर्थ पूर्ण अभिप्राय १३–भेद १४–दृश्य जगत १५–परिणामी जगत १६–सम्बन्ध १७–व्यक्त रूप १८–असल तत्व।

सिफ़ात[19] का, ज़ाती और सिफ़ाती, आसमानी और ज़मीनी नग़मा[20]।

'उद्गीत' की नक़ल 'ॐ' है, जो तीन अक्षरों के मिलाप से होंठ, जिह्वा और स्वर की मदद से अदा किया जाता है। 'ॐ' असली वेद तब है, जबकि उसकी क़ुदरती[21] ध्वनि सुन ली जावेगी। यह 'ॐ' एक ख़ास ख़याल की मदद से ध्वन्यात्मक से वर्णात्मक शब्द बनाया गया है—और वह ख़ास ख़याल है पैदाइश[22], क़याम[23] और वापसी यानी मौत। किन्तु केवल जिह्वा से अदा किया हुआ 'ॐ' केवल नक़ल और बुत-परस्ती[24] है, क्यों कि ख़यालो चीज़ को दिल देना बुत–परस्ती है, और ज़ात से सम्बन्ध रखना ज्ञान है। यह बुत-परस्ती क़ाबिले–मुज़म्मत[25] नहीं है क्यों कि ज़ात तक पहुँचने का ज़रिया-महज़[26] है।

(१) 'अ'–सृष्टि (आफ़रीनिश), 'उ'–स्थिति (इस्तहकाम, निज़ाम) 'म'–प्रलय (फ़ना)

(२) 'अ'–ब्रह्मा (आफ़रीदगार), 'उ'–विष्णु (कारसाज़), 'म'–शिव (फ़ना करने वाला)

'ॐ'–'ओ३म्' में ईश्वर के तीनों सिफ़ात (विशेषण) मौजूद हैं–'अ' हरकत[27] है, 'उ' हरकत का क़याम, 'म' हरकत का ख़ात्मा।

'ॐ' में हरकत की तीनों विशेषताएँ मौजूद हैं।

'ॐ' श्रुति है, उद्गीत है। अगर उसको बाक़ायदा सुन लिया जाए, तो असलियत से हमकिनार[28] हो जाए, और ज़िन्दगी का मक़सद[29] पूरा हो जाए। 'ॐ' के सुमिरन (हृदया जाप), ध्यान (तसव्वर, मुशाहिदा) और भजन (महवियत) से यह तीनों हालतें आसानी से नसीब[30] हो सकती हैं—(१) मन–हस्ती, ज़िन्दगी, जीवन की ख़ुश नुमाई और ख़ुश रवी; (२) चित–ज्ञान, इल्म, जीवन की ख़ुश इल्मी और ख़ुश वाक़फ़ियती; (३) आनन्द–प्रसन्नता, सुरूर, जीवन की ख़ुशी और ख़ुश गुज़रानी।

१९–गुणों की संहति २०–गायन २१–मौलिक २२–जन्म २३–ठहरना २४–मूर्ति-पूजन २५–धिक्कारने योग्य २६–मात्र साधन २७–कम्पन (Disturbance, Becoming) २८–भेंटना, गले मिलना २९–चरम लक्ष्य ३०–प्राप्त।

'ॐ' तो आवाज़ ही आवाज़ है । वह ध्वनि है और ध्वनि का ताल्लुक़ सिर्फ़ गाने और सुनने ही से है । यदि वह सुना जाए और बाक़ायदा गाया जाए तो सुनने और गाने वाला सच्चिदानन्द के एहसास का वारिस[३१] हो जाए, और देखते देखते कुछ का कुछ नज़र आने लगे । हर इन्सान सच्चिदानन्द है । सत् (हस्ती), चित् (इल्म), और ज्ञान या आनन्द (सुख) से कोई ख़ाली नहीं, लेकिन भ्रम और अज्ञान के कारण वह अपने आप को कुछ का कुछ मान रहा है, और मान बैठा है । यहाँ सत्संग की सहायता से इस भ्रम को दूर करने का प्रयत्न किया जाता है, और साथ ही साथ अमली[३२] तौर पर अभ्यास, साधन और शग़ल के अमल की तरकीब बता कर उस को सत् चित् आनन्द का देखना और दिखाना मद्दे-नज़र[३३] है ।

'ॐ' सिर्फ़ ध्वनि, उद्गीत, श्रुति है । इस लिहाज़ से उसको 'यों', 'स्वं', 'त्वं' वग़ैरह भी कह लिया जाये तब भी एक तरह से ग़लत न होगा । यद्यपि असली तौर पर उसकी नक़ल 'ॐ' ही है और यही ज़्यादा मौज़ूँ[३४] भी है, इससे बेहतर और कोई मेल खाने वाली आवाज़ी सूरत नहीं हो सकती । इसी वजह से उसको बीज-मन्त्र (असली इसलाह, असली तदबीर, और असली तरकीब) कहते हैं । यह असल है और बाक़ी सब इस त्रैलोक्य में उसकी नक़ल हैं ।

वेद चार नहीं हैं, सिर्फ़ तीन हैं क्यों कि 'ॐ' के अन्दर सिर्फ़ तीन क़िस्म की आवाज़ें मौजूद हैं । चार वेद सिर्फ़ निज़ामी[३५], किताबी, और तरतीबी[३६] लिहाज़ की वजह से माने जाते हैं । इस दुनिया में सिर्फ़ तीन ही बातें हैं जो क़ाबिल-अमल, क़ाबिल-पसन्द और क़ाबिल-ग़ौर हैं । (१) सत् (हस्ती) (२) चित् (ज्ञान) , और (३) आनन्द (राहत और सुरूर) ।

दुनिया में सिर्फ़ तीन ही ज्ञान, तीन ही ज़िन्दगी और तीन ही ख़ुशी हैं—

१-ज़िन्दगी या हस्ती तीन प्रकार की है:—सच्चिदानन्द=सत् (अमली), चित् (इल्मी) और आनन्द (शरई)

२-ज्ञान या इल्म भी तीन प्रकार का है:—सच्चिदानन्द=सत् (ज़िन्दगी का ज्ञान), चित् (ज्ञान का ज्ञान), आनन्द (ख़ुशी का ज्ञान) ।

३१-अधिकारी ३२-व्यावहारिक ३३-अभिप्रेत ३४-उचित ३५-व्यवस्था ३६-क्रम ।

३-ख़ुशी या सुख; यह भी तीन प्रकार का है:—सच्चिदानन्द=सत् (ज़िन्दगी का सुख), चित् (जानने का सुख), और आनन्द (सुख का सुख)

वेद क़ाबिल-तरदीद[३५] है, क्यों कि वेद मन्त्र, श्रुति, उद्गीत तो वास्तव में 'ॐ' है । उस में तवारुद[३६], तअद्दुद[३७] और इन्सान के दिली जज़्बात[३८] भी शामिल रहते है । अत: लफ़्ज़-बन्द[३९] करते या होते वक़्त उनमें इस क़दर फ़र्क़ आ जाया करता है । मिसाल:-एक एकाई जमा[४०], तफ़रीक़[४१], ज़र्ब[४२], तक़सीम[४३] के सिद्धान्तों के अन्तर्गत लम्बे-चौड़े और छोटे-मोटे हिसाब का रूप धारण करती है । सारा हिसाब उलट-फेर और तकरार[४४] के बावजूद[४५] भी केवल एकाई है, और एकाई ही की सूरत रखता है । जिस तरह पानी विभिन्न तदबीर और रास्ते से गुज़रने और गुज़ारे जाने पर फ़व्वारा, चश्मा, तालाब, नदी, समुद्र, आदि बनता हुआ फिर भी पानी का पानी ही रहता है; जिस प्रकार बीज अपने अन्दर जड़, पेड़, शाखा, पत्ते, कोपल, फल, फूल रखता है, और इन विभिन्न शक्लों से गुज़रता हुआ बीज का बीज होता है, और उसी असली और पहली शक्ल में परिवर्तित होता हुआ अन्त में बीज ही सिद्ध होता है, वैसे ही यह लफ़्ज़ 'ॐ' शब्द होने पर भी 'ॐ' का 'ॐ' ही रहता है । 'ॐ' की इस तकरार-एआद[४६] से वेद की किताबों के छन्द, मन्त्र आदि बन गए । चूँकि इस लफ़्ज़ के अदा करने में इन्सान के दिली जज़्बात भी शामिल रहते हैं, अत: उस के असरात[४७] में भी रक़ीक़-उल-क़लबी[४८], सख़्ती, नरमी, ज़ोर, आहिस्तगी, दोस्ती, दुश्मनी आदि का प्रभाव आ जाता है, और वह इन्सान की कुव्वते-इरादी[४९] को शक्ति प्रदान कर विभिन्न प्रकार की सिद्धि, शक्ति, मोजज़ा[५०] और आदत में भी परिवर्तित होती है ।

इस मन्त्र के जाप का तरीक़ा है । ज़रूरत है कि जो मन्त्र जिस इरादे से पढ़ा जाये, उस का लब-व-लहजा[५१] भी ख़ास क़िस्म का

३५-शुद्धि के योग्य ३६-घटना-गुण ३७-सख्या--गुण ३८-भावनाएँ ३९-शब्द-बद्ध ४०-जोड़ (धन) ४१-घटाना (ऋण) ४२-गुणा ४३-भाग ४४-विरोध ४५-होते हुए ४६-सन्धि-विरोध ४७-कार्य (Effects) ४८-मानसिक आर्द्रता ४९-इच्छा-शक्ति, सर्म हा (Will power) ५०-चमत्कार ५१-उच्चारण ।

हो, तब ख़ास क़िस्म का असर पैदा होगा। यह सिद्धान्त इल्म-मौसीक़ी अर्थात् संगीत-विद्या की जान है। दिल के अन्दर ख़ास ख़याल रख कर बाक़ायदा किसी एक लफ़्ज़ को पढ़ो, गाओ, सुनाओ, और ख़ास क़िस्म का असर पैदा होगा।

बादल का पानी तो पानी ही है। बार बार बूँदों के रूप में गिरने पर पत्थर को एक विशेष रूप देता है, और जहाँ जैसी ज़मीन होती है और उसके अन्दर जैसे बीज हों, उन्हीं को ताक़त दे कर ज़ाहिर करेगा। हवा तो हवा ही है। वह मरीज़ का मर्ज़, तन्दुरुस्त की तन्दुरुस्ती, प्रसन्न व्यक्ति की प्रसन्नता और आजुर्दा दिल[५२] की आजुर्दगी को बढ़ा देगी। यही कैफ़ियत तमाम अनासिर[५३] की और अनासिर से बने हुए साज़-व-सामान की है। इसी प्रकार 'ॐ' की विभिन्न प्रभाव उत्पन्न करने की हालत को समझो। गाने की मिसाल ले लीजिए-'ॐ' के अन्दर इन्सान के बातनी-तसव्वर[५४] का भेद छिपा रहता है। अब एक लफ़्ज़ की तकरार-एआद से छन्दों अर्थात नज़्मों में इख़्तसार[५५] और तवालत[५६] होती है। घंटे से एक आवाज़ 'टन' निकलती है। इसे एक बार बोलो तो केवल 'टन' है, दो बार 'टन' 'टन' है, तीन बार 'टन' 'टन' 'टन' है। 'ॐ' उम्म-उल्-सदा अर्थात तमाम आवाज़ों की माँ है। तुम्हारी डकार, छींक, उबासी तक में तो यह मौजूद है। जहाँ कोई आवाज़ सुनो, और दिल उसमें लगा दो—घंटा, शङ्ख, बाँसुरी, तबला, पखावज आदि से भी वही आवाज़ निकलती है। ऋषियों ने ख़ूब सोच समझ कर इस की इशाअत[५७] की है।

जब मन्त्रों का ज़माना आया तो लोग असलियत को खो बैठे, लेकिन मुतक़द्दमीन[५८] के कलाम[५९] में एतक़ाद[६०] रखने के कारण वह मन्त्रों को ही श्रुति मान कर उस ख़याल को श्रद्धा पूर्वक पुष्ट करते रहते हैं।

[अपूर्ण—शेषांश अगले अङ्क में]

५२-विक्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति ५३--तत्व ५४-- आन्तरिक ख़याल ५५-संक्षेप ५६-विस्तार ५७-प्रकाशन ५८-पूर्वज ऋषि ५९-कथन ६०-निष्ठा

लक्ष्य और साधन

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष, श्रीरामचन्द्र मिशन)

मैं ममझता हूँ कि कमाल[१] इसी में है कि शुरू से ही कमाल[२] को लक्ष्य किया जाये और आख़िर में बस यही रह जाये। यही ज़िन्दगी का मक़सद है-हब्बुल-अव्वल हब्बुल-आख़िर[३]। यही उरूज[४] है व नुज़ूल[५] है; और भाई यही मुख़्तसिरन[६] शुरू में है और आख़िर में भी। यही चीज़ निराकार और साकार से परे है। यही वह कैफ़ियत है जहाँ पर कि आदमी जब तक कि इसका एहसास रखता है, हैरत[७] में रहता है। हैरत एक ऐसी चीज़ है कि जिसमें पैदा हो गई चीज़ें ख़ुद ब ख़ुद खुलना शुरू हो जाती हैं। चेतना की उच्च स्थिति (Super conscious state) जब नसीब होती है तो इस हैरत के औज़ार से प्रकृति (Nature) के मुआमलात और बहुत से उक़्दे[८] खोल देती है। पहली हैरत की बुनियाद यह होती है कि इन्सान अपनी ठोसता की हालत और सूक्ष्मता की हालत से मुक़ाबला अज़ख़ुद[९] करने लगता है। जब उस को यह अच्छी मालूम पड़ने लगती है तो फिर उसी में पड़े रहने को जी चाहता है, मगर मालिक की तवज्जह[१०] का यह असर होता है कि उस चीज़ में मुबरी[११] की शक़्ल अख़्तियार करती है, लोच और नर्मी बढ़ाती जाती है। यह लोच और नर्मी अपेक्षत: ज़्यादा सूक्ष्म होती है और इन्सान जब इसमें घुसता जाता है, बेरूनी असरात[१२] जो उसके ख़ुद पैदा किये हुए हैं, उस तरफ़ से अदम-तवज्जही (unmindfulness) हो जाती है। उस का जी उस अन्दरूनी हालत में ही रहना चाहता है। रहते रहते जब उसकी उपच की सूरत ज़्यादा बढ़ती है तो ठोसता से बेख़बर होने लगता है, यहाँ तक

१-उत्कृष्टता २-अन्तिम अवस्था ३-जो प्रारम्भ में है, वही अन्त में है। ४-उच्च पद ५-निम्न पद ६-संक्षेप में ७-आश्चर्य ८-भेद, ग्रन्थियाँ ९-स्वयं १०-प्राणाहुति ११-हल्कापन १२-बाह्य प्रभाव।

कि यह मंज़िल आ जाती है कि वह उसी में रहना और बसना शुरू कर देता है। दूसरे शब्दों में अगर उसको सालोक्यता की हालत कह लिया जावे तो ज्यादा मौजूँ होगा। इसकी मोटी पहचान यह है कि जब यह सालोक्यता की हालत शुरू होती है तो उसको ऐसा आराम मिलता है जैसे एक धूप का चला हुआ मुसाफ़िर बबूल के दरख़्त के साये के नीचे आराम महसूस करता है। जितना सम्बन्ध उस लोक से होता जाता है उतना ही आराम और सुकून[13] क़ायम रहता है और यह एहसास जगता हुआ मौजूद होता है कि मेरी पैदाइश आलमे-बाला[14] में हो चुकी है। इसका ख़याल पहले से बाँधना जबून[15] है। हमको ख़याल अपने मक़सद की तरफ़ रखना चाहिए।

दुनिया में सुकून और शान्ति की बड़ी तारीफ़ है। यक़ीन जानिये कि मैं बीस साल तक बेचैन रहा हूँ और इस बेचैनी में जो सोज़[16] व गुदाज़[17] था, सुकून में नहीं मिलता। यही एक चीज़ है जो रास्ता बनाती है और मंजिल तक पहुँचा कर ख़ामोश हो जाती है। अगर शुरू से यह हालत किसी में पैदा करना शुरू कर दूँ तो वह यही कहेगा कि मैंने सुकून व शान्ति के लिए पूजा शुरू की थी, किन्तु बढ़ रही है बेचैनी। नतीजा यह होगा कि मुमकिन है कि मेरी शक्ल से मुतनफ्फिर[18] हो जावे। मजबूर हूँ। इस लिए मैं यह कहता हूँ कि यह हालत ईश्वर करे ख़ुद ब ख़ुद पैदा हो जावे। ज़रा इसका मज़ा लेकर तो देखें। मेरी समझ में इसके मुक़ाबले में हज़ारों सल्-नतें हेच[19] हैं। अगर मैं इसकी व्याख्या करूँ तो आप आश्चर्य करेंगे कि यह वह ख़ामोश हरकत[20] है जो शुरू में मथ मथाकर कायनात[21] को ज़हूर[22] में लाई। गोया इस तज़लज़ुल[23] से हमारा वजूद[24] हुआ। अब हम असल भंडार में अगर अपनी वापसी चाहते हैं तो इस चीज़ को अख़्तियार करके उसी रास्ते होकर जायें, जिससे हम आये हैं। इसके बाद जो बेचैनी बढ़ी वह अपनी पैदा की हुई है, इस लिए कि हम असल से जो ताक़त अपने साथ लाये हैं उसके इस्तेमाल से हमने जो कुछ भी किया है वह ज़ाहिर है।

१३–शान्ति १४–परलोक १५–बुरा १६–जलन १७–पिघलना १८–घृणा करने वाला १९–नगण्य २०–गति २१–सृष्टि २२–व्यक्त रूप २३–कम्पन २४–अस्तित्व।

अब उसी को उलट देना है ताकि रास्ता सीधा मिल जाये। जब हम इस रास्ते पर पड़ जाते हैं तो वह असल तज़लज़ुल, जिसको मैंने बेचैनी के नाम से कहा है, उससे मिल-मिलाकर हम एक प्रकार से अपने में ताक़त महसूस करने लगते हैं, जो ख़ालिस है। यह चीज़ शब्द की झनकार भी है जो कि ठोसता के साथ मिलने से पैदा होती है मगर यह आवाज़ ख़ामोश कही जाती है। रास्ते के सिरे पर पड़ जाने से यह चीज़ खुलने लगती है। इसकी पहचान भी यह है कि जहाँ शब्द का एहसास शुरू होगया तो समझ लेना चाहिए कि रास्ते पर पड़ गए। अक्सर लोगों को इस रास्ते पर एक दम से भी डाला जाता है। ख़ैर यह तालीम-कुनिन्दा[25] पर मुनहसिर[26] है। जैसा वह मुनासिब समझे करे।

इस बेचैनी को, ज़रा आगे बढ़ने पर सूफ़ी महात्माओं ने 'दर्द-दिल' कहा है, यानी जब यह बेचैनी तड़प की शक्ल अख़्तियार करले:—

'तमन्ना[27] दर्द-दिल की हो, तो कर सोहबत फ़क़ीरों की,
नहीं मिलता है ये गौहर[28] शहनशाही ख़ज़ानों में, ॥

मेरे इस सब कहने का निचोड़ यह है कि:—

'दिले मन बाग़बाने इश्क़ व हैरानी गुलिस्तानश।
अज़ल दरवाज़ए बागो अबद हद्दे खयाबानश ॥*

अब या तो इन्सान इस हालत में मुहब्बत करते २ पहुँच जावे या इस हालत के लिए अपने आप को मालिक के सुपुर्द कर दे। आप यह सवाल ज़रूर करेंगे कि वह Practical exercise कौन सी हो सकती है? इसके उत्तर में एक कहानी इस प्रकार है। एक बादशाह शिकार-गाह में मौजूद था। नमाज़ का वक़्त आया-मसलह[29] बिछाया गया और वह नमाज़ पढ़ने लगा। इत्तफ़ाक़ से एक औरत

२५–गुरु २६–निर्भर २७–इच्छा २८–मोती *मेरा हृदय उसके प्रेम और आश्चर्य के बाग़ का माली है। सृष्टि का आदि उस बाग़ का दरवाज़ा है, और सृष्टि का अन्त उसके बाग़ीचे की सीमा है। २९–नमाज़ का बिछौना।

उधर से निकली । वह शाही-मसलह रौंदती हुई वहाँ से चली गई। बादशाह को यह बात बड़ी नागवार हुई मगर चूँकि नियत बाँध चुका था जिसका तोड़ना मुनासिब न था, कुछ न कहा । नमाज से जब फ़ारिग़ हुआ तो वह औरत फिर वहाँ से गुज़री । बादशाह ने कहा "तू कैसी नादान औरत है कि तूने नमाज़ के वक़्त एक बादशाह का मसलह रौंद डाला और तुझे ख़तरे का ख़याल पैदा न हुआ ?" उसने जवाब दिया कि मैं अपने यार से मिलने के लिए इस क़दर बेचैन थी कि मुझे यह ख़बर न हुई कि एक बादशाह का मसलह बिछा हुआ है और वह इस वक़्त नमाज़ में है । मेरा मुहब्बते-मजाज़ी[३०] में जब यह हाल था तो ताज्जुब है कि तुझको यह ख़बर कैसे होगई जबकि तू हक़ीक़त[३१] के लिए सर-ब-सजूद[३२] था ।"

ग़ौर फ़रमाइए कितना अच्छा नतीजा इससे निकलता है । उस औरत की बेक़रारी अगर किसी बादशाह को नसीब हो जाती तो उसकी भी हालत यही हो जाती कि सल्तनत के होते हुए, वह उससे बेख़बर हो जाता । बेख़बरी से मेरा मतलब सिर्फ़ यह है कि लगाव उस तरफ़ न रहता और काम होता रहता । यह एक हालत है जो जब संस्कार बनना बन्द हो जाते हैं तब पैदा हो जाती है । वाक़ई तौर पर इस ख़िरमने-कायनात[३३] में सिर्फ़ मुहब्बत ही ऐसी चीज़ है जिससे सब कुछ हो सकता है और ईश्वर से मिलने का यही एक रास्ता है । जब बेक़रारी के साथ मुहब्बत का उरूज[३४] होता है तो हर चीज़ ख़ुद ब ख़ुद जलकर ख़ाक होने लगती है और यही एक चीज़ है जिससे Self surrender हो सकता है । उसको याद ऐसी होनी चाहिए कि फिर अपनी भी याद न रहे । यहाँ तक कि याद की भी याद बाक़ी न रहे ।

अब रहा यह सवाल कि बे-नक़ाब कैसे हों ? सहल नुस्ख़ा यह है कि यक़ीन और faith हर ख़याल के पर्दे को चाक कर देती है और जब यह चीज़ पूर्ण रूप में पहुँच जाती है तब बे-नक़ाबी की हालत पैदा होने लगती है । Devotion दर हक़ीक़त उसके बाद ही से शुरू होता है ।

मैंने मुख़्तसिरन यह तहरीर करा दिया हालाँ कि इसमें की एक एक चीज़ ऐसी है कि वरक़ के वरक़ रंगे जा सकते हैं ।

—एक अभ्यासी के पत्र से उद्धृत ।

३०--सांसारिक प्रेम ३१--वास्तविक तत्व ३२--सिजदे में सिर झुकाए हुए ।
३३-विश्व का ख़लिहान ३४--विकास ।

अनन्त यात्रा

[इस स्थायी स्तम्भ का उद्देश्य साधकों की आध्यात्मिक प्रगति का विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत कर के ब्रह्म-विद्या को सुव्यवस्थित वैज्ञानिक अध्ययन के लिए सुलभ करना है । एतदर्थ श्रद्धेय 'बाबू जी' के साथ एक श्रेष्ठ एवं संवेदनशील अभ्यासी के पत्र-व्यवहार का क्रमशः प्रकाशन किया जा रहा है । पत्रों के केवल वही अंश प्रकाशित किए जा रहे हैं, जो आध्यात्मिक स्थितियों के अनुभव से सम्बन्धित हैं अभ्यासी का नाम आदि व्यक्तिगत बातें प्रकाशित नहीं की जा रही हैं ।————सम्पादक]

(पत्र संख्या ११)

परम पूज्य श्रद्धेय 'श्री बाबू जी' के
चरणों में सादर प्रणाम ।

आशा है आप आराम से पहुँच गए होंगे । आपके यहाँ आने से सब लोगों को बहुत लाभ हो गया तथा शान्ति भी बहुत मिली । मैं आपको लिख चुका हूँ कि मेरी दशा कुछ भूली सी रहती है । लगभग पाँच महीने से तो ईश्वर की कृपा से शायद एक क्षण को भी मेरा मन अशान्त नहीं हुआ, परन्तु अबकी से आप न जाने कौन सी चीज़ हृदय में भर गए हैं कि उसको मैं बतला नहीं सकता हूँ । केवल इतना कह सकता हूँ कि आजकल की दशा मुर्दे की तरह है । 'ॐ' को अपने हृदय की धड़कन में सुनने को जो आपने कहा था वह कभी उँगलियों में और कभी पीठ में भी होता है । आपके पास यहाँ जिस दिन मैं अन्तिम बार गया था उसी दिन से मुझे अपनी दशा बहुत अच्छी मालुम पड़ती है, परन्तु क्या अच्छी है यह नहीं मालूम है । उस दिन रात्रि में थोड़ी देर मैं ध्यान में बैठ गया था तो न जाने कहाँ से यह आवाज़ आई कि "इतनी मेहनत मत करो" ।

पूज्य श्री बाबू जी, मैंने जो उपरोक्त दशायें लिखी हैं वे सब केवल मेरे मालिक की ही अहेतुकी कृपा एवं आपके आशीर्वाद और कृपा का ही फल है । मुझको तो आप जानते ही हैं कि साधना,

भजन कुछ बन नहीं पड़ता है। बस प्रार्थना उस जगदीश्वर से यही है और आपसे भी यही थी और रहेगी कि तव कृपा से जल्दी से जल्दी मेरी परम आत्मोन्नति हो एवं ईश्वर में मेरा अनन्य और निष्काम प्रेम हो। मैं 'उसकी' ही याद में बेचैन रहूँ इसके लिये जो कुछ भी बन पड़ेगा करूँगा।

आपकी दीन हीन संतान

.....

(पत्र संख्या १२)

'श्री बाबू जी' का उत्तर'

प्रिय.....

आशीर्वाद।

पत्र मिला—खुशी हुई। ईश्वर का धन्यवाद है कि तुम्हारा रुजहान उसकी तरफ़ हो रहा है। ईश्वर तुमको खूब रूहानी तरक्की देवे। तुमने जो कैफ़ियत शान्ति की लिखी है, वह अच्छी है, मगर इस शान्ति में अगर बेक़रारी न हो तो ऐसा है जैसे अच्छे भोजन में नमक न डाले। कैफ़ियत अपनी लिखते रहा करो। मुर्दे की सी दशा जो तुमने लिखी है, इसका जवाब मैं बहुत दिनों बाद दूँगा अगर याद रही। इस पर अभी ज्यादा लिखना मुनासिब नहीं समझता। एक खत में किसी हालत के बारे में पहले भी यही लफ़्ज़ लिख चुका हूँ कि फिर जवाब दूँगा। अगर इनको किसी डायरी में नोट कर लो, मुमकिन है कि मुझे याद दिलाने पर याद आजावे। तन्दुरुस्ती तुम जहाँ तक हो सके अपनी बनाने की कोशिश करो, यह बात बहुत आवश्यक है।

—तुम्हारा शुभचिन्तक

रामचन्द्र

(पत्र संख्या १३)

पूज्य तथा श्रद्धेय 'श्री बाबू जी' के

चरणों में सादर प्रणाम।

मेरा एक पत्र आपको मिला होगा। मैंने उस पत्र में जो दशा लिखी थी उसकी जगह क़रीब नौ, दस दिन से जो दशा अब मेरे

प्रभु ने मुझे प्रदान की है वह मेरी बहुत ही प्रिय वस्तु है। जो रोना मुझे कभी कभी आता था, एवं जो बेचैनी मुझे कभी कभी होती थी और जिसकी भीख अपने प्रिय 'दातार' से नित्य प्रति माँगा करता था, वही बेचैनी, वही रुलाई इधर नौ, दस दिन से मेरी हर समय की संगिनी होगई है। इस रोने में कितना आनन्द आता है कि जी ही नहीं भरता; और जब क़ाबू कर के कुछ काम करने लगता हूँ तो भीतर ही भीतर सिसकियाँ उठती हैं। अब यह दशा है कि जब रोना बन्द हो जाता है तो बेचैनी बहुत होने लगती है। परन्तु कल से दोनों दशाएँ कम हो गई हैं, और हृदय में बहुत हल्कापन तथा शान्ति भी बहुत मालूम पड़ती है। वैसे तो जो दशा 'मालिक' देगा वह सिर माथे मंजूर है परन्तु जितना आनन्द उन दो दशाओं में है उतना मुझे शान्ति में भी नहीं आता है। मैं तो इन दोनों रत्नों को हृदय में छिपा कर रखूँगा, और आपसे भी यही बिनती है कि जब कभी ईश्वर से इस दीन के लिए आप कुछ माँगें तो ये दो चीजें ही मुख्यतः माँगें।

मैंने जो दशाएँ ऊपर लिखी हैं वे केवल आपके आशीर्वाद व अहेतुकी कृपा एवं पूज्य.....की मेहनत का ही फल है। मेरी एक प्रबल इच्छा है कि मैं और मेरे की जगह केवल एकमात्र ईश्वर ही रह जाये, और सब नष्ट हो जाये।

आपका कृपा-पत्र अभी मिला। आपका आशीर्वाद सदा मेरे सिर पर है। अब कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो मुझे एक क्षण को भी ईश्वर की याद से अलग कर सके। मुझ में प्रेम तो बिल्कुल भी नहीं है क्यों कि मैंने सुना है कि सच्चे प्रेम में, मैं और मेरे का सदा के लिए विनाश हो जाता है। देखें वह परम पिता जगदीश्वर शायद कभी मुझ ग़रीब को भी अपना सच्चा प्रेम प्रदान करे। मैं डायरी में दोनों बातें नोट कर लूँगा।

आपकी दीन, हीन संतान

.....

(पत्र संख्या १४)

'श्री बाबू जी' का उत्तर'

प्रिय.....

आशीर्वाद ।

पत्र मिला–खुशी हुई । ईश्वर तक पहुँचते पहुँचते जाने कितनी दशाएँ परिवर्त्तित होती रहती हैं । यह हालतें प्रत्येक अभ्यासी पर गुजरती हैं । लगन अगर अच्छी है तो अक्सर दशाएँ feel होती हैं । तुम्हारे खत मैं रखता जाता हूँ । हर दशा पर एक एक कर के प्रकाश डाला जा सकता है, मगर मैं उस वक़्त इन दशाओं को लिखना चाहता हूँ जबकि दशाएँ बहुत कुछ पार होकर ऊँचे उठ जाओ । ईश्वर से कुछ दूर नहीं, वह सब कुछ कर सकता है । हमारी भूल यह है कि उसको अपने पास होते हुए भी अनुभव नहीं करते ।

तुम्हारा शुभचिन्तक
रामचन्द्र

(पत्र संख्या १५)

पूज्य तथा श्रद्धेय 'श्री बाबू जी' के,

चरणों में सादर प्रणाम ।

मेरा एक पत्र आपको मिला होगा । पूज्य.....से मालूम हुआ कि कोई लिखने वाला न होने के कारण आप उत्तर न देसके । ता: १ से दशा में कुछ बढ़ती मालूम हुई है, इस लिए अब लिख रहा हूँ । उस दिन रात को क़रीब आठ बजे ऐसा मालुम हुआ कि कहीं से Sitting आरही है । मैं पूजा में बैठ गया, उस दिन की तरह आज तक मुझे कभी भी Sitting नहीं मिली । मैंने अगले पत्र में शायद शिथिलता के बारे में लिखा था परन्तु उस दिन तो ऐसा लगा जैसे भीतर से किसी ने मन तथा इन्द्रियों को बिल्कुल बेकार ही कर दिया है । Sitting के बाद कुछ शिथिलता मालूम होने लगी । फिर १० या साढ़े दस बजे सो गया तो स्वप्न देखा कि "'आप' तथा पूज्य..... बैठे हुए हैं । मेरे हाथ में दाने निकले हुए हैं,

'आपने' कहा कि 'लाओ तुम्हारे दाने अच्छे कर दें' । सच ही 'आपके' पावन करों के लगाते ही सारे दाने ठीक हो गये तथा फिर आपने मुझसे Sitting में बैठ जाने को कहा । आपने स्वप्न में न जाने कितनी देर पूजा करवाई ।" जब आँख खुली तो जो मुर्दे की सी दशा मेरी कभी कभी कुछ मिनटों के लिए होती थी उस दिन क़रीब दो घटे तक तो शरीर का कोई भाग हिल नहीं सकता था और ऐसा मालूम पड़ता था कि शरीर मानों निष्प्राण है । फिर तो ५, ६ दिन तक दिन में या रात में भी, ध्यान देने पर मुर्दे की तरह मालूम पड़ता था । अब तो यह दशा है कि प्यारे ईश्वर के बिना अब रहा नहीं जाता । अब तो जल्दी ही कृपा करके मेरे ईश्वर से मिला दीजिए । यह हृदय अब 'उसके' लिए बहुत बेचैन हो रहा है, एवं 'उसके' पाने के लिए तड़प उठा है । क्या 'मालिक' तक अभी इस दीन की खबर नहीं पहुँची है ? यदि नहीं, तो आप कृपया शीघ्र ही मुझे 'उस' तक पहुँचा दीजिए । ऐ 'मालिक' मैं तुझ में विलीन हो जाऊँ, मेरा कोई अस्तित्व न रह जावे । केवल 'तू' ही रह जा और मेरा अतिशय प्यारा होजा ।

जैसे एक छोटा अनजान बालक शाम को सिवा अपनी माँ के और किसी के पास नहीं रहना चाहता, उसी प्रकार मैं भी इस संसार रूपी 'शाम' में बिना ईश्वर रूपी माँ के नहीं रह सकता । इस हृदय को चीर कर यदि 'वह' देख ले तो शायद इतनी देर न लगाये । मेरी तो प्यारी माता, पालक पिता तथा आत्मशिक्षक गुरु सब कुछ ईश्वर ही है । मेरे 'श्री बाबू जी', अबकी हृदय के उद्वेग को न रोक सकने के कारण जो कुछ लिख गया हूँ अनुचित हो तो कृपया क्षमा कर दीजियेगा ।

मैं तो यही कहूँगा कि मुझमें सच्ची लगन नहीं है, प्रेम नहीं है । नहीं तो 'आपने' लिखा था कि सच्ची लगन वाले के लिए ईश्वर अत्यन्त समीप है । क्या करूँ, जो अग्नि अन्दर धधकती रहती है वह कभी कभी ऊपर उभर आती है । वैसे दशा तो अब मेरी यह होगई है कि चाहे Sitting लूँ या न लूँ, बस ज़रा याद आजाने पर ही मन स्वत: ही इतना तेज़ लग जाता है, जैसे हाथ या पैर कुछ देर एक सी दशा में रखने से सो जाते हैं, वैसे ही यह मन

व दिमाग भी सो जाता है । जैसे पहले ध्यान करता था कि "जो सब में रमा हुआ है, उस ईश्वर की मैं याद कर रहा हूँ" परन्तु अब तो ऐसा मालूम पड़ता है कि न मैं हूँ, न ईश्वर ही है परन्तु याद में मैं डूबा हूँ । तबियत में रमाव अधिक है । कभी कभी दिन में खाना खाते समय या काम करते समय भी अपने आप ही मस्त हो जाता हूँ ।

अपकी दीन, हीन, संतान

.....

(क्रमशः)

—:❀❀❀❀❀:—

❀ भजन ❀

(राग आसावरी)

अपने घर दियना बारु रे ।

नाम कै तेल सुरत कै बाती, ब्रह्म अगिन उदगारु रे ॥१॥

जग मग जोत निहार मन्दिर में, तन मन धन सब वारु रे ॥२॥

झूठी जान जगत की आसा, बारम्बार बिसारु रे ॥३॥

कहत कबीर सुनो भाई सन्तो, आपन काज सँवारु रे ॥४॥

—कबीरदास

सहज–मार्ग की साधना

(काशीराम अग्रवाल, तिनसुकिया--आसाम)

बहुत से भाइयों को यह प्रश्न बराबर बना ही रहता है कि ईश्वर–प्राप्ति का यह सहज–मार्ग कैसे हुआ । ईश्वर–प्राप्ति का मार्ग तो बड़ा ही कठिन है !!

यह प्रश्न तो अधिकतर उन भाइयों को ही उठा करते हैं, जिन्हों ने सहज–मार्ग के उद्देश्य एवं साधना पद्धति को अपना कर उसकी परीक्षा न की हो । ईश्वर कोई स्थूल एवं सीमित वस्तु नहीं है, तथा सुर्य की भाँति जमीन से नौ करोड़ तीस लाख मील लम्बा कहीं आसमान में बसा हुआ नहीं है, जो उसे प्राप्त करना कठिन समझा जावे । श्रद्धेय 'बाबू जी' ने तो अपनी पुस्तक "Reality at Dawn" में यहाँ तक लिखा है, कि लोग ईश्वर प्राप्ति जितना कठिन समझते हैं, उतना कठिन नहीं है, आज के युग में सरकारी नौकरी पाना जितना कठिन है, ईश्वर–प्राप्ति कहीं उससे भी सहज है ।

ईश्वर–प्राप्ति हमें कठिन क्यों लगती है ? इस लिए कि हमने अपने विचारों को पत्थर एवं ठोस बना लिया है । अपने हृदय पर कालिमा के (मल, विक्षेप, आवरण) पर्दे डाल लिये, तथा अपने जीवन का उद्देश्य आवश्यकता से अधिक धनोपार्जन कर ऐश आराम करना ही बना लिया; और ईश्वर क्या है, सत्य क्या है, इसको समझने की हमने आवश्यकता ही न समझी ।

हम लोगों की बुद्धि में कितनी ठोसता भरी है कि ईश्वर को आसमान का निवासी समझते हैं या मन्दिरों में रहने वाला समझते हैं । वास्तव में यह हम लोगों का अन्ध विश्वास है, कि जो सर्व–व्यापी परमात्मा है उसे स्थूल एवं एक ही जगह रहने वाला समझने लगे । मुसलमान भाई मस्जिदों में ही समझने लगे, ईसाई लोग गिरजाघर में ही तथा हम लोग मन्दिरों में ही उस भगवान को समझने लगे । अगर ऐसा न समझते तो हमें हर समय हर जगह

पाप कर्मों से भय बना रहता । अब भय इस लिए नहीं होता कि वह परमात्मा हमें यहाँ देखने कैसे आवेगा, वह तो मन्दिर में ही रहता है ।

बहुत से भाई दुनिया की भलाई के लिए हर वर्ष में एक बार विशेष कार्यक्रम बनाते हैं जैसे दुर्गा पूजा, जन्माष्टमी के अवसर पर । या किसी आश्रम एवं मन्दिरों में दूर दूर से लोग आते हैं । खूब भीड़ होती है–खूब सुन्दर उपदेश होते हैं, अपने जीवन की उलझी हुई समस्याओं को सुलझाने के लिए ही अक्सर धार्मिक प्रोग्राम बनाये जाते हैं; लेकिन वहाँ पर भी अधिकतर लोग मनोरञ्जन के लिए ही जाना पसन्द करते हैं । विषय वासनाओं के रंग में रंगे रहते हैं और इधर उधर ताक कर अपने नेत्रों में गन्दगी भर कर बजाय फ़ायदा के और अधिक नुक़सान में पड़ जाते हैं । यह आँखों का दोष नहीं है बल्कि यह मन का एक रोग है ।

ईश्वर प्राप्ति के लिए आसमान की तरफ टकटकी बाँधने की भी आवश्यकता नहीं, यह केवल एक भेद मात्र है जो सच्चा पथ-प्रदर्शक हमें बतला देगा। यह तो सभी जानते हैं कि भेद वाला ताला अनजान व्यक्ति के लिए पहाड़ होता है, और वह वर्षों तक स्वयं को उसमें उलझाता रहे तो भी उसका खुलना असम्भव हो सकता है । लेकिन भेद वाले (पथ-पदर्शक) का सहारा लेकर उसका भेद क्षण मात्र में जाना जा सकता है । जो बात हमारे लिए कठिन थी, अब वह हमारे लिए सहज हो गई, इस लिए हमें "पथ-प्रदर्शक" प्राप्त होने के बाद सहज लगने लगती है। कठिनाई तभी तक है जब तक सच्चे पथ प्रदर्शक के लिए तड़प पैदा नहीं होती । ईश्वर को पाना क्या है ! उधर से मुख इधर घुमाना है, तथा अपने स्वयं के स्वरूप को पहचान लेना ही ईश्वर-दर्शन है ।

वास्तव में साधारण अर्थ में ईश्वर का दर्शन नहीं होता । जो हमें इष्ट आदि के दर्शन होते हैं वह हमारा काल्पनिक चित्र हमारे सम्मुख उसी रूप में आ जाता है, जैसा कि हम उसे चाहते हैं । उन्हें कल्पना कह लेना शायद गलत न होगा । इसी लिए निर्विकल्प समाधि का अनुभव कल्पना रहित है । ईश्वर अनुभवगम्य विषय है, अनुभव किया जा सकता है; उसका दर्शन नहीं होता–अनुभव ही सब से बड़ा दर्शन है । अनुभव उसी प्रकार किया जाता है जिस

प्रकार हमें चलती हुई हवा शरीर से स्पर्श होती हुई अनुभव होती है, मगर उसका दर्शन नहीं होता । योगी हवा के सदृश हर समय ईश्वर का अनुभव करता रहता है ।

ईश्वर-प्राप्ति हमें कठिन क्यों लगती है ? इस लिए कि मन साँसारिक विषय को अधिक चाहता है और आध्यात्मिकता की तरफ़ जाने पर मन बहाना बना कर इस से बचने के लिए यह आदेश देने लग जाता है, "नहीं, नहीं, बड़ा कठिन काम है, हम ग्रहस्थ हैं, हम ईश्वर को भला कैसे पा सकते हैं ।" ऐसा क्यों होता है ? इस लिए कि जो विश्व को देखने का शीशा या यन्त्र हृदय है उस के आगे हम लोगों ने कालिमा के पर्दे बना कर डाल दिये हैं; और नतीजा यह हुआ कि हमें प्रकाश मिलना बन्द हो गया, तथा अपने बनाये हुये दायरे के अन्दर ही रह कर आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति प्राप्त करना, खूब ऐश-आराम करना ही जीवन का उद्देश्य बना लिया । और सहज चीज़ कठिन दिखाई देने लगी । परिणाम यही हुआ कि असली पूजा की पद्धति को छोड़ बैठे और बनी लकीर को पीटना शुरू कर दिया । नतीजा यह हुआ कि वर्षों लकीर पीटी फिर भी सर्प न मिला; जीवन भर पूजा की फिर भी भगवान न मिला ।

सहज-मार्ग में, जहाँ तक अनुभव किया, बहुत ही सूक्ष्म साधनों द्वारा बड़ी सरलता पूर्वक मानव अपने उद्देश्य की प्राप्ति कर सकता है । यह तो आधुनिक युग की चाल है कि लोग आध्यात्मिकता को समझना एवं उस पर चलना नहीं चाहते, तथा अपना धर्म दूसरों को सताने में एवं अपना स्वार्थ पूरा करने में ही समझने लगे । यह तो समर्थ सद्गुरु की अपार कृपा का फल है कि अपने अनुभव द्वारा बहुत कुछ रास्ता काट-छाँट कर सहज बना दिया ताकि लोग कठिन और असम्भव कह कर सच्चे मार्ग से अलग न हो बैठें, तथा उन्हें अपनी आन्तरिक-शक्ति द्वारा समय समय पर मदद बराबर देते रहते हैं। उस आन्तरिक शक्ति को अंग्रेजी में Transmission Power कहते हैं । सिखाने वाले में यह (Transmission Power) अगर है तो फिर वह मार्ग मुश्किल नहीं रहता बल्कि सहज कहा जा सकता है। सहज-मार्ग कोई पंथ नहीं है । इस में हर एक धर्म वाला साधनों द्वारा अपना जीवन सुलझा सकता है । सब का उद्देश्य एक ही है । यह

पंथाई झगड़े भाषा का अन्तर होने से ही होते हैं । संसार एक शीशे का घर है जो एक व्यक्ति होने पर भी हज़ारों दृष्टिगोचर होते हैं, बस यही भूल भुलैया का भेद है जो हमें जानना है ।

जब वैराग्य की दशा आती है तो यह एक चमत्कार है कि सब ग्रहस्थी के काम ज्यों के त्यों होते रहते हैं तथा शरीर के कपड़े फाड़ना, जल में डूब जाने की तबियत करना, आत्मघात को दिल चाहना, कहीं जंगलों में चले जाना आदि हालत गुजरने पर भी उसे मीठी मीठी आन्तरिक शक्ति की सेंक मिलती रहती है, जिस से वह अपने शरीर को भी हानि नहीं पहुँचा सकता, तथा ग्रहस्थी के कामों में भी अड़चन नहीं पड़ती । काम हाथों से होता रहता है दिल, अन्दर से जलता रहता है, फिर भी संसार वालों से खूब बात-चीत बोल-चाल रखता है, दूसरा जान भी नहीं पाता कि इस के दिल का क्या हाल है, यह बिना धुएँ की आग है ।

ऐसे योग को ग्रहस्थ-योग कह लेना किसी हद तक ठीक ही होगा, हमारे ग्रहस्थी के काम भी होते रहते हैं तथा अपने उद्देश्य की प्राप्ति भी सहज में कर सकते हैं । एक विशेषता यह भी है कि अभ्यासी को सहज-समाधि की दशा कुछ समय के बाद बराबर ही बनी रहती है, चलते-फिरते उठते-बैठते खाते एवं विश्राम करने पर भी बराबर बनी रहता है तथा चेतनता एवं समाधि-अवस्था दोनों समान रूप से बराबर चलती रहती है, जिस से हमें ग्रहस्थी के कामों में भी अड़चन नहीं आती तथा हालतों का अनुभव भी प्राप्त होता रहता है । ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने के लिए पहले शिष्य को अनेक वर्ष तक एकान्त में गुरु की सेवा में रहना पड़ता था तब कहीं ब्रह्म-विद्या को सीख पाते थे । अब सहज तरीका इस लिए निकाला गया कि समय बदल जाने से अब पिछली रूढ़ियाँ काम नहीं दे सकतीं । लोग ब्रह्म विद्या को कठिन समझ कर या इस विद्या को सन्यासी ही प्राप्त कर सकते हैं ऐसा समझ कर सब कुछ छोड़ बैठे ।

ईश्वर प्राप्ति कठिन उस हालत में कही जा सकती है जब कि हमें सच्चा पथ-प्रदर्शक प्राप्त नहीं हो जाता । बिना सहयोगी के चलना ज़रूर असम्भव है । एक व्यक्ति के लिए एक मन वज़न लम्बे सफर में सिर पर उठा कर सफर तै करना कठिन है; लेकिन यदि अच्छा

शक्तिशाली सहयोगी हमें सहयोग देने वाला मिल जावे कि वह कुछ वजन हमारी शक्ति अनुसार हमें दे देवें और बाकी अपने सिर पर लाद कर हमें घर तक पहुँचा दे, तो वह चीज़ जो हमारे लिए असम्भव थी अब सहज हो गई । ऐसे सच्चे सहयोगी (पथ-प्रदर्शक) की आवश्यकता है । तरीके बतलाने वाले हज़ारों मिल जाते हैं, मगर सर पर बोझ लाद कर मदद करना कोई नहीं चाहते, तो वह हमारे लिए सहयोगी नहीं हो सकते । कोरी सफ़ाचट मैदान सी बातों से क्या होता है, हमें तो ऐसे सहयोगी की आवश्यकता है जो बोझ लादकर घर तक पहुँचा दे । रास्ता बतलाने वाले, तथा 'खड़े रहना मैं अभी आता हूँ' कह कर रास्ता नापने वाले हज़ारों मिलेंगे । निःस्वार्थी सम-दर्शी योगी ही हमारे जीवन की समस्यायें सुलझा सकते हैं । लेकिन अफ़सोस हमारी बन्दर-बुद्धि पर ! कहानी है कि किसी बग़ीचे में कई बन्दर घुस कर आमों का नाश कर डालते थे माली ने गोली चलाना शुरू किया, बन्दर अभिमान में आकर कहने लगे 'क्या आदमी ही आम के वृक्ष लगा सकते हैं, हम नहीं लगा सकते !' कुछ बन्दर आम की गुठली लेकर नदी किनारे गड्ढा खोद कर गुठली दबा आये, तथा दो चार मिनट के बाद ही वृक्ष न उगने पर परेशान हो गये और दो चार मिनट तक पानी डालते रहे तथा आपस में अफसोस कर कहने लगे, 'अभी तक तो अंकुर भी नहीं फूटा; अभी तक तो पत्ते भी नहीं निकले' । वही हाल आज हम लोगों का है कि सच्चा पथ-प्रदर्शक प्राप्त हो जाने पर भी ५-१० दिन तो अभ्यास उन के आदेशानुसार करते हैं, तथा २-४ दिन में ही ऊब कर कहने लग जाते हैं कि 'अभी तक तो चार भुजा वाले भगवान के दर्शन ही नहीं हुये, अभी तक तो कुछ भी चमत्कार दिखाई नहीं दिए ।' मैं तो यही कहूँगा कि पूरी श्रद्धा विश्वास द्वारा पूरा जिन्दगी भर अपने सद्गुरु के आदेशानुसार चले और जीवन के शेष दिन में १ क्षण पहले भी अगर प्रकाश मिल जावे और हमारे बनाये कालिमा के पर्दे टूट जावें तो बड़ा ही सहज है, क्यों कि शास्त्रों में बतलाया गया है कि अभ्यासी अगर स्वयं की शक्ति द्वारा चले तो एक हालत पार करने में १० हज़ार वर्ष लगते हैं तथा दूसरी में दुगने वर्ष !! अब विचार करने पर पता चलेगा कि इस जीवन में पथ-प्रदर्शक को कितना काम करना पड़ता है । सहज-मार्ग का प्रथम तरीक़ा आन्तरिक सफाई का

है जो प्राणाहुति (Transmission) की सहायता से सहज बन जाती है, और इस से सहज तरीका और हो भी क्या सकता है। अफ़सोस तो इस बात का है कि लोग चलना नहीं चाहते, अभ्यास (Practice) करना नहीं चाहते, सहज तरीक़ों को अपनाना नहीं चाहते। अगर हम उन सहज तरीकों को अपना कर दृढ़ता के साथ रास्ता तै करते, तो असम्भव शब्द का कभी भी प्रयोग नहीं करते!

लोग कह देते हैं कि मन बड़ा चंचल है और यह बात ठीक भी है कि मन बड़ा चंचल है, वश में होना कठिन है। किन्तु यह जानते हुए फिर भी लोग उसका उपाय नहीं करते। केवल 'रोग बहुत बुरा है' कह कर उस रोग का हम इलाज नहीं कराते, तो होगा यही कि वह दिनो दिन और बढ़ता चला जावेगा। कह देने मात्र से रोग दूर नहीं होता, उस का इलाज डाक्टरों वैद्यों द्वारा ही हो सकता है।

आप को अभ्यास बतलाया गया। दस बीस दिन किया भी; लेकिन आप को विश्वास नहीं होता कि मन चंचलता छोड़ देगा, और आप अभ्यास छोड़ देते हैं। यह अभ्यास का ही फल है कि लोग इतने बड़े भयकर जंगली जानवरों को जैसे शेर, चीते, हाथी, अजगर सर्प आदि को पकड़ लाते हैं तथा साधनों द्वारा उन को वश में कर लेते हैं। फिर कौन बड़ी बात है कि हम साधनों में लगे रहें और मन को धीरे धीरे वश में न कर सकें। अनजान व्यक्ति को जंगलों में जाने मात्र से ही भय लगेगा, लेकिन जिसने अपने Master (गुरु) की शरण लेकर उन सब को पकड़ने के तरीके सीखे हैं, और अभ्यास किया है तो उसके लिए भारी से भारी चीज भी सहज होगी। शेर को गोली का शिकार सहज ही बनाया जा सकता है, लेकिन मानव उस शेर को तो जिन्दा ही वश पकड़ कर लाता है, और वह कठिन चीज सहज बन गई! किन्तु हमारे लिए शेर तो क्या बन्दर पकड़ना भी कठिन है क्यों कि हम तरीक़ों से अनजान हैं। बन्दर का उदाहरण कितना अच्छा है। साधनों द्वारों बन्दर को पकड़ कर तरीकों से खूँटे में बाँध कर रखते हैं। कुछ दिनों तक खूँटों में बांधने से उसकी चंचलता कम हुई तथा सिखाया-पढ़ाया गया; गले से अब डोर भी खोल दी गई, इस लिए कि अब भागने का डर नहीं रहा।

अब बाज़ारों में ले जा कर नचाता है; जो आदेश देता है बन्दर उस का पालन करता है। उस बन्दर को इन्सान नचा रहा है जो बन्दर इन्सान को नचा मारते हैं। बन्दर की चँचलता चली गई, बाज़ारों में हज़ारों आदमियों के बीच में किसी को डराता नहीं, नुक़सान नहीं पहुँचाता, वृक्षों पर कूदने की इच्छा न रही, और बाजीगर के हाथ का खिलौना बन गया। अगर इन्सान चाहे तो उस मन को जो हमें बुरा लगता है अपने बश में कर सकता है; बड़ी बात नहीं। लेकिन बन्दरों की भाँति एक ही दिन में वृक्ष लगाकर आम खाने की तमन्ना न करे। सहज-मार्ग की पद्धति बड़ी सहज है। हम हृदय पर ध्यान (Meditation) करते हैं, हृदय मन को बाँधने का खूँटा है, तथा कुछ दिन के अभ्यास के बाद मन अपनी चँचलता छोड़ देना शुरू कर देता है। दिनों दिन मन एकाग्र होना शुरू हो जाता है; बाद में मन के हम स्वामी हो जाते हैं, जो हमारा जबरन ही स्वामी बन बैठा था। तथा अब मन धोखा दे देगा, यह भी भय नहीं रहा। अब ध्यान (Meditation) की भी आवश्यकता नहीं रहती, इस लिए कि यह तो मन को बाँधने का एक खूँटा था। जब मन अपनी चँचलता छोड़ दे तो भय नहीं रहता। योगियों की तरह हर जगह विचरण कर सकते हैं, मन धोखा नहीं देगा।

—:⊖:❀:⊖:—

❀ जाने क्या बात है, साक़ी, तेरे मैख़ाने में ❀

[परिव्राजक विष्णु जी_विष्णु स्वामी 'सदा']

हाँ, कोई बात न थी, उन से जो हम मिल बैठे,
दर्दे-दिल पैदा हुआ यूँ मेरे अनजाने में ॥१॥
उन की आँखों से ढले बूँद, तो छलकी प्याली,
हम ने पी पी के किये सिजदे सनमख़ाने में ॥२॥
मैं भी चुप, वह भी चुप, और रात भी चुप, चाँद भी चुप,
सब ही कुछ गुम हुआ बस एक ही पैमाने में ॥३॥
वह पिला दी मेरे साक़ी ने, न अब कुछ बाक़ी,
होश कुछ भी न रहा अपने व बेगाने में ॥४॥
ऐ 'सदा', दूर सभी रञ्जो—अलम होते हैं,
जाने क्या बात है, साक़ी, तेरे मैख़ाने में ॥५॥

विश्वास और बुद्धि

(कुमारी केसर चतुर्वेदी एम० ए०, एल० टी० लखीमपुर-खीरी)

"आओ कहाँ जा रहे हो ?" "शान्ति चाहता हूँ। बस केवल इतनी ही साध है ?" "तो आओ सच्चे पथ पर चल कर शान्ति के साथ २ जीवन का लक्ष्य भी प्राप्त करो ।"

"यह तो सभी कहते हैं परन्तु अभी तक ऐसा सम्भव नहीं हो सका है ।"

"हाँ यह तो तुम ठीक कहते हो । परन्तु यह तो बताओ कि जो ईश्वर किसी पथ का पोषक नहीं है, जो किसी विशेष वर्ग, जाति अथवा स्थान का प्राणी नहीं है उसको तुम किसी पथ के बंधन में रह कर कैसे प्राप्त कर सकते हो ।"

"तभी तो मैं कहता हूँ कि तुम व्यर्थ ही मुझे अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास कर रहे हो । मैं तो पहले से ही इन मत-मतान्तरों का खोखलापन जानता हूँ ।"

"परन्तु मैं तो तुम्हें किसी पथ पर चलने को नहीं कहता । मैं तो केवल इतना ही कहता हूँ कि 'ईश्वर' पर सब कुछ छोड़ दो । विश्वास, दृढ़ विश्वास का आँचल थाम लो, फिर वह तुम्हें स्वयं मेव ही अपने में लय कर लेगा, सारे संसार में भटकने से बचा लेगा ।"

"तुम्हारे कहने से क्या होता है । मैं तो उस पर पूर्ण विश्वास करता हूँ परन्तु फिर भी यही लगता है कि जैसे मैं ठीक पथ पर नहीं हूँ, मुझे खोज करना चाहिये ।"

"यही तो कारण है कि स्थान स्थान पर घूमने से भी तुम्हें परम-शान्ति का सुख नहीं मिला । तुम्हारा कथन तो यह है कि तुम 'उस' पर पूर्ण विश्वास करते हो, परन्तु तुम्हारा मस्तिष्क तुम्हारा साथ नहीं देता । बुद्धि अन्य मार्गों और पथों का अवलोकन करने को कहती है और तुम बुद्धि की आवाज को, पुकार को प्रधानता देते हो । फल यह होता है कि ईश्वर-मार्ग में लगी हृदय-डोर बुद्धि के झटके से टूट जाती है; और तुम पुनः विश्वास के मार्ग से डिग जाते हो, और अन्य अज्ञात पथों की खोज में प्रयत्नशील होते हो ।"

"मैं तो बुद्धि की आवाज को प्रधानता नहीं देना चाहता परन्तु वह फिर भी मेरी भावनाओं पर अधिकार कर लेती है, और विश्वास की भावना पर कुठाराघात करती है, इसका क्या कारण है ?"

"कारण तो स्पष्ट है। वह (बुद्धि) सांसारिक कामनाओं की पूर्ति चाहती है । वह ऐसे ईश्वर के विषय में विचार करना भी अप्रिय समझती है जहाँ उसे यह भय रहता है कि उसकी गम नहीं, उसकी गुजर नहीं । यह तो सर्व मान्य नियम है कि प्रत्येक अपने को विजयी बना कर रखना चाहता है, विजित होकर रहना किसी को प्रिय नहीं। अतः बुद्धि विश्वास का डेरा उखाड़ कर और तर्क का डेरा जमा कर मानव पर शासन करना चाहती है । यदि तुम भी इसी (बुद्धि) के राज्य में रह कर वास्तविक सुखों से दूर रहना चाहते हो तो मुझे कुछ भी नहीं कहना; परन्तु यदि तुम अविरल सुख, असीम उत्साह एवं परमानन्द की प्राप्ति चाहते हो तो इसके जाल से मुक्त होकर विश्वास के चरणों पर सर्वस्व लुटा दो अन्यथा एक नहीं, सहस्त्रों जन्म रोते-कलपते ही जावेंगे ।

"यदि इस बुद्धि को निष्क्रिय कर दिया जाये ?—नहीं; बुद्धि की निष्क्रियता प्राणी की उन्नति में बाधक है । ईश्वर द्वारा दी गई प्रत्येक वस्तु सजग और चेतन रह कर ही मनुष्य को आध्यात्मिकता के उच्च शिखर पर पहुँचा सकती है ।"

"तो इस बुद्धि को कैसे वशवर्ती किया जाये ? मैं तो अभी तक मन को ही दोषी ठहराता रहा और बुद्धि की ओर तो मेरा ध्यान भी नहीं था ।"

"बुद्धि को वशवर्ती करने का एक ही ढंग है कि ईश्वर पर प्रगाढ़ विश्वास करके कि उसके प्रत्येक कार्य-कलाप प्राणी के उपकार हेतु हैं, उसका सतत मनन किया जावे । चाहे कितनी ही बाधायें, कितने ही कष्ट, कितनी ही समस्यायें सम्मुख आवें, और बुद्धि तर्क बल से विश्वास को परे ढकेलने का यत्न करे परन्तु मन में विश्वास की डोर का आश्रय लेकर सभी विषय परिस्थितियों का सामना करना चाहिये । यह डोर ढीली नहीं होनी चाहिए, अन्यथा बुद्धि अपना कार्य प्रारंभ कर देगी। ज्यों ज्यों यह डोर शक्तिशालिनी होती जावेगी त्यों त्यों अखंड सुख शान्ति का साम्राज्य स्थापित होता जावेगा । 'सरल' को पाने के लिये हमें इसी सरल सहज मार्ग को अपनाना होगा तभी इस सँसार सागर से बेड़ा पार होगा, ईश्वरीय सम्मिलन का सुख प्राप्त होगा, सँसार दुःखागार होने के स्थान पर सुखागार दिखलाई देने लगेगा। सारे बँधन छिन्न-भिन्न हो जावेंगे और हम स्वतंत्र पथ पर विचरण करते हुये उस स्वतंत्र सत्ता में मिल जावेंगे, जिसके लिये वेद और शास्त्र 'नेति-नेति' कहते हैं ।"

वैराग्य

(कुमारी कस्तूरी चतुर्वेदी 'सन्ध्या', लखीमपुर–खीरी)

जोगी, तू मुक्ता मणि छोड़ रे !
मार्ग चलत अनगिनत लुभावत, सब सों ही मुख मोड़ रे ॥१॥
शाह की शाही चार दिनन की, पंडित पूरन कौन रे ।
ले हरदी की गाँठ पँसारी बनि न बैठु, चलु भौन रे ॥२॥
थोरेहिं जल उबरात तलैया, आतप सोखत नीर रे ।
सब सरितन्ह समेटि निसि बासर, सागर रहत गँभीर रे ॥३॥
पियत पपिहरा स्वाती बूँदन, रहत रटत पिव पीव रे ।
'सन्ध्या' बनी अतृप्त पिपासा, प्रभु मग हेरत जीव रे ॥४॥

—:❀❀❀:—

गुरु स्तवनम्

अद्वयतत्त्वसमाहितचित्तं प्रोज्जवलभक्तिपटावृतवृत्तम् ।
कर्मकलेवरमद्भुतरूपं यामि गुरुं शरणं भववैद्यम् ॥

—स्वामी विवेकानन्द

[मैं उन गुरुदेव की शरण प्राप्त करूँ जो भव रोग के वैद्य हैं; जिन का चित्त उस द्वैत–शून्य तत्त्व में लय प्राप्त कर चुका है; जिन का अस्तित्त्व अत्यन्त उज्जवल भक्ति के पर्दे से ढँका है; जिन का कर्मरत शरीर अद्भुत कार्यों में सचेष्ट है]

[May I find the refuge of the Preceptor Lord, who is the physician of the ailments of Becoming; whose mind is merged in the Element devoid of duality; whose existence is covered by the veil of blotless devotion; whose active body is busy in miraculous pursuits.]

The Problem: Its Solution.

(Shri Ram Chandra ji, President S. R. C. Mission)

When the soul put on the clothing of body, then alone its reverse form appeared in the form of covering. That is, all this thing became a rope which had come in its own form having developed many knots. Dear brother, along with the soul we have revived its reverse form in the beginning itself. Have you not seen that the flare is doubled by the union of fire and water; and that if the air enters in it then it begins even to flash, and the flare too grows on proportionately ? What is this flare ? These are different actions of Prakriti which are created on the force of soul. Now in these things, that is the play of earth, air, water and fire which came before the vision, the vision never went towards that which was The Real Thing. Just imagine. What created in them due to their wrong use a condition that the Real Thing whose action was behind the veil did not come up before the vision ? Neither it could be understood as to Why That had to do such action whose result was destruction. The cause of the action was that The Real Thing along with that Will (of creating the World) got mixed up with the Will of Self to create the world. Now, the thought of multiplicity (that is, the creation of Srishti) is the reverse of Oneness, or these two things are opposite to one another in a way. In other words this other thing which is said to have been made out of the effect of the Will is grosser than its Original. But both

these things came so closely joined together that these jointly accelerated the thought (the thought of the Creation of Srishti); and similarly their action was also likewise to that which happens by the union of fire and water.

We brought Soul from Nature in which there was mixed Consciousness also, and this consciousness was the effect of that Will of Self due to Which the forms got manifested. Now the effect of our will is that we also made the things with us conscious by giving them power by our thought. What was before ? The same which is different from soul. The quality of soul is peace and the quality of body (which is reverse of that) is the reverse of that. But all its makers are we alone, and this is our own doing. Now, the flare alone, as explained above, which is created due to this Karma of ours is ASHANTI, trouble and pain. If ever we get the ability to stop giving power to that thing, then its condition will be just like the plants which are not given water. Now, how is this possible ? If we divert our thought which is turned towards materialism and body, towards the soul, then these things which are created in the form of troubles due to our actions will gradually fade out, and the effect which is created due to turning the vision towards the soul will influence that also. Gradually by purification its condition will be such as the flare will begin to vanish, and its condition will be that which is due to the conscious diverting of the consciousness towards the soul which it had from Will and Life.

The Creation came into being. Immediately after the advent of consciousness we became just like a weak patient who is given the tonic, as a result of which he starts more indulgence, and due to that indulgence again begins to suffer on the death-bed. The result is that though there was nothing wrong in the thing given, yet the fault lay in its wrong (improper) use, and the pain took such shape as the necessity of medicine began to be felt acutely. I say again that if there were no form of disease, none would have remembered the health which was in the beginning. Only the patient can value health with regard. By getting liberation from this alone, the symptoms of health are created.

You will ask how the things which are called troubles or the reverse of the Original get the power. The answer is that the Power of consciousness (Chaitanya Shakti) makes them powerful in propotion to our paying attention towards them, and gradually so much force is created that thing appears to overpower us or our thought. The same is the case with Bhakti (devotion) or worship. If we divert our attention towards The original (towards God), then as because God Himself is Power, the power begins to come in that also; and this other (the second or the undesirable) thing automatically begins to grow weak. Since these things are under us, we give them power. And because that thing is under God it receives power from There. What is the purport ? If we turn our interest towards God in the real sense, then all these things fade out in the end, and gradually the result will be that con-

dition which Lord Krishna has described. What is that condition ? Man begins to feel himself ACTION LESS and this condition (AMEN !), when grows and reaches high level, stops the formation of impressions (SANSKAR). And if ever one stepped in this condition and went on further, then what remains ? One part of it will be, what is called, the state of liberation in lifetime (JEEVAN-MOKSH GATI). What a word (!) which people are trying to prove in many ways. But dear brother, What a light and easy thing this is ? And be sure; to attain this also is very easy. Easy thing is always attained quite automatically or easily.

The thing is so easy that, if tried, it can very easily be achieved by multitudes. The mode of expression of this Dasha has been generally told by the folk who really do not know the path, nor have they ever tried through somebody who had really entered this kind of sphere in life. They seek the remedy with the persons who are fresh enough to speak always on the subject. They are moved greatly to those kind of people who speak extempore on the platform. The thing is in the innocent hearts of the persons who have mastered the Nature so to say. Rarely you will find this thing Why ? Because they do not try to gain the simple thing by simple methods. My the day dawn, when the people may taste this nectar of real life DURLABHA for DEVATAS. People are busy thinking always their own tales. Sit in loneliness for sometime and think of God with as much power as you have attributed to your own difficulties. What then ? It is easy to realise your own God as the realisation of the worldly things in crude form.

—From a letter to an abhyasi

Religion & Spirituality

[Shri Ishwar Sahai, Lakhimpur Kheri]

Religion is a path by which we mean to march to our goal. In most cases it is based upon the practical experience of its great founder, who taught and preached to the people the ideal of Truth as discovered by him. The basic principles of almost all the religions are the same. Every religion accepts that there is one God and that He is Infinite. The Divine laws are the same everywhere. Universal Love is the very foundation of every religion. What is then the difference between all the various religions ? Why are there so many religions at all when the fundamentals are the same ? The reason is quite clear. It is because of the presence, in every religion of certain set prejudices, based on forms, rituals and other ceremonials, which are mendatory and can in no way be dispensed with by a true follower. These prejudices from the outward barriers of almost every religion and represent it as a seperate unit distinctly apart from all others. It is thus by these outer barriers alone that one religion can be distinguished from the other. Our blind and tenacious adherence to those outward formalities, ignoring the fundamental truth at the bottom, leads us to orthodoxy, prejudice and bigotary. Thus each religion, represented as a seperate unit, enclosed within its impregnable barriers of orthodoxy and prejudice is the true picture of religion witnessed everywhere in the world today. Consequently religion which was originally meant

to serve as a connecting link between man and God has on account of its prejudices become a barrier between the two. Religion taken in this light is meaningless and of no avail, rather it is detrimental to the cause of general human welfare. But as every cloud has a silver lining, so there is some ray of hope which flashes in the minds of the saintly personalities of the world whose hearts are burning with the thought of present afflictions of mankind. They are consequently straining their nerves to find out means for establishing a common world religion to ensure the welfare of humanity at large. Their pious motives and noble ideals, though highly commendable, do not, so for seem to bring forth desired results.

With a view to ensure man's rights and safe living on the earth, much prominence is being given to the question of unification of all religions by introducing a common one. Universal religion. But the experience of the last two World Wars shows that most of the nations involved therein belonged to one and the same religion and in spite of this common tie they entered into deadly wars bringing untold disaster to mankind. Evidently religious prejudice could not have been the cause, neither the racial nor the national prejudice. The real cause of the wars was the economic problems based on sheer selfishness which created circumstances for the disturbance of peace. Besides the unification brought about by the introduction of new institutions based on the combined prejudices of each, may probably be of little avail. It may be more

like a coalition of religions established in the form of a new institution, adding to the already existing list. If the various religions of the World are to be unified, it is necessary to abolish the block system by breaking down the barriers of each. When all prejudices regarding name, forms and rituals are washed off from the mind of the followers, all religions will come round to a common point, God which is universal and the final goal. In my Master's words, "God is not to be found within the fold of a particular religion or sect. He is not confined within certain forms and rituals, nor is He to be traced out from within the scriptures. Him we have to seek for in the inner most core of the heart". Thus for the establishment of a Universal religion it is essential to remove all prejudices and fix yourself upon the idea of God the Infinite, sticking firmly to the noblest principle of Uuiversal love and service.

The real cause of diversity in religions is the difference in the coception of God. God is Infinite almost all agree to it. But human approach being limited, the conceptions differ. Some think of Him as having a celestial body which is not visible to every eye except to that of a devotee. Others think Him to be seated on the highest heaven watching the good and bad actions of the people. Still others think of Him as an eternal Power pervading all the Universe. Consequently each one takes up lines suited to his purpose, and on account of prejudice and orthodoxy he becomes so narrow-minded that he does not like to take into account any other view. The most

commonly accepted conception of God is that of an omnipotent, Omniscient and Omnipresent super-natural being and that being the conception in almost all religions, is the God of religion and the final limit of its approach. But taking in view the Infinite character of God we cannot stop here. We must go on to higher conceptions which are beyond the scope of religion and for which we have to take up the path of spirituality. In support of my views I give below a quotation from the 'Reality at Dawn'. "Religion is only a preliminary state for preparing a man for his march on the path of Freedom. When he has set his foot on the path, he is then beyond the limits of religion. The end of religion is the beginning of spirituality, the end of spirituality is the beginning of Reality, the end of Reality is the real Bliss. When that too is gone we have reached the destination". This is the highest mark which is almost inexpressible in words. Thus all differences and dissentions in regard to religion exist so long as we are within the bounds of a particular religion. When we cross its limits or rise above the level of religion we enter the field of spiritualism which is universal and where all religions are unified into one.

SPIRITUALITY;--So far (i.e. upto the limit of Religion) God was viewed as a formless being (Nirakar) possessing highest powers(Sarva Shaktiman) and all the finest attributes (Saguna). We call Him as Ishwar or the controller of the Universe. Now proceeding by the law of cause and effect we come to the conclusion that He is the origin or the cause

of the vast Universe, with all its diversities and differentiations, or more appropriately the centre of the vast circle known as Universe. When we take this centre to our view and observe it minutely, this centre or point appears itself to be another finer circle, or a more subtle copy of the gross external existence. As such we are led to believe that it too must have a still finer centre within it. The same will be the case with this second centre. Thus there must be a centre for every circle, and every centre in its turn must be a finer and still finer circle. The same process continues endlessly. So from the outermost grossest aspect of God, as a formless Being, possessing attributes, we proceed on to finer aspects, above all limitations of attributes (i. e. Nirguna). With this conception in view, we are now beyond the limits of religion. The idea of worship too now begins to fade. We begin to feel ourselves to be the possessors of the Godly attributes and powers. Sameness begins to develop. The feeling, "I am Thou" grows predominant, Rising still higher we come to the finermost conceptions of God as Activity proper, Consciousness or Potentiality. This is the point of the origin of the universe. But that too is not the end. There is God still above and beyond it, The finermost Centre of all the subsequent circles. There It has neither power nor activity nor consciousness. It may roughly be denoted as the Dormant State, Nothingness or Zero, Infinite and Inexpressible. Thus our march towards God is not limited within the bounds of religion but goes on much beyond, rising higher to finer and finer aspects, removing

all limitations one by one. This is the essence of spirituality. In other words it means our return to our primitive original state wherefrom we have descended down to our present grossest form.

Our existence in the present state is neither sudden nor accidental but it is the result of a long process of evolution. The existence of soul can be traced as far back as the time of Creation, when it existed in its absolute state as an individual entity. From that subtle state we marched down, taking on layers after layers of grossness, which are more appropriately expressed as coverings round the soul. The consciousness of individuality (Ego) was the first covering in the composition of MAN. It continued developing more and more grosser forms. The actions of Manas (Psyche), Chit (Consciousness), Buddhi (Intellect) and Ahankar (Ego) in cruder forms began to contribute to our grossness. Finally our thoughts and actions began to put in new colourings over it and sanskars began to be formed. These are the innumerable coverings of grossness, which we have gathered round the Soul. It is in fact a tiny creation of our own, which is a miniature copy of the God's Creation. Now for our return to the primeval state, we must revert to the process of involution, which may be taken to mean as the renouncing, one by one of all the coverings of Sanskars, Maya and Ahankar, to the last possible degree. Just as Maha-Pralaya is essential for the return of everything in existence to the Origin, so is our pralaya essential for our return to our Origin or the Primeval state, we had come down from. This

is what we do in meditation. We gather ourselves on one and the same point, the Absolute Reality, ignoring all things of our own making, which begin to fade away from our mind as we advance with our practice. In course of time we begin to acquire gradully the state of Negation. Now we enter the sphere of true God'ly state and One-ness begins to grow more and more predominant all through.

Still we go on. Our march continues infinitely. There is no end to it. Thus Perfection in this sense is only a meaningless term. But we hear so much of it in certain particular cases where saints have attained a higher level of spiritual elevation. It is in fact an error of common judgement which is based on want of proper knowledge and understanding. The various conceptions of God, from the lowest to the highest, present to our mind different standards of the final approach. Consequently our ideas of Perfection also differ. Thus what we really aspire for, remains a mystery to most of us. To be virtuous and God-fearing is noble but it is not perfection. To be devoted to God in thought, word and deed is a stage of progress but it is not perfection. To be in communion with God, is one of the highest stages but it is not perfection. To be in a state of permanent bliss is a Divine blessing but still it is not perfection in true sense. Really God alone is Perfect and no mortal, however advanced he may be can ever justly claim to be perfect. We are marching on, right across to the Inner-most Centre — the Infinite Zero, which is beyond human conception. Our ultimate approach to the farthest possible limit in that direction is all that Perfection can be taken to mean. It is impossible to put a post-mark for Perfection. Hence the word conveys no real sense and is almost meaningless.

The System of Sahaj-Marga

(Viewed through the sieve of classical religion & yoga)

(Shri Raghavendra Rao, Gulbarga, Mysore)

(1)

We start with meditation on Heart.

The supremacy of the Lord residing in the Heart is acknowledged by all the holy scriptures in the world.

It can be very easily inferred that the Heart is the nucleus of all life.

Every one is aware of the Heart and its importance.

All the ancient sages have ordained to meditate on the "Vasudeva" aspect of the Lord, who resides in the Heart.

All the Sufis take up the Heart for meditation.

(2)

Why should His "Luminous Pervasiveness" aspect alone be taken up for meditation and why should we not meditate on the other aspects ?

Because it is the safest to practise and the easiest to conceive.

Because of the possibility of comingt o erroneous conceptions if other aspects are taken up.

Some saints have unwittingly taken up the other aspects for meditation and landed in delusion.

For example : In some cases the "Aham Brahm Asmi" led either to the silly conclusion of constant repetition of those words or to the delusion of

one's being the Brahm which resulted in pride and grossness.

In some other cases the "Sat Chit Ananda" aspect was taken to be Supermind, and when it came to the physical plane it resulted in the useless conception of the immortality of the physical body.

Again in some other cases the "Infinite One" aspect created a lot of confusion and resulted in one's being caught up in the snare of Lord's Maya.

And so too with the "Unmanifest" and other aspects.

It must, however, be borne in mind that all these aspects are one and the same.

The differentiation arises mainly due to the limitation of the individual mind.

One who meditates on the "All-Pervasive Effulgence of the Lord in the Heart" verily goes through the experience of the states of other aspects also; and ultimately comes to the integral experience of the Absolute.

Provided that the right path is taken up under the guidance of the worthy Master.

Provided that the right path taken up is the Natural path.

(3)

The meditation itself is of the form of 'Shiva' because it is calm and peaceful.

It is of the form of "Rudra" because it brings in the state of "Pralaya" and destroys all complexities.

It is of the nature of "Brahma" because it grows and expands and creates a new life.

(4)

The ultimate result of the meditation is the

realisation of oneness with God and permanent living in that State.

This is brought about by the complete dissolution of the individual's tiny creation and even the individuality.

Attaining this, one becomes devoid of any kind of effort or struggle or movement.

(5)

The Guide (Guru) and the transmission (Pranahuti) are its two main tools.

Only he who is devoid of all impurities, illusions and coverings and who is residing permanently in a state of utter negation should be chosen as the Guide.

The Guide removes all the complexities and pushes the aspirant to higher states by the power of transmission very rapidly.

(6)

The Kingly power in man is the power of thought.

The individual utilises the power of thought to create his tiny world even as God has created the universe by the same power.

This thought-power if linked with the Divine sets the thought to work in the Natural way; and whatever is created out of such thought-if at all such thought can create-will be in perfect conformity with Nature.

Since we have connected our thought with matter and the sold body, the thought itself has lost all Its originality and has become quite gross. If we want to regain that originality and subtlity we

should disconnect it from its present engrossment and attach it to the subtlest one.

But it has become extremely difficult for us to disconnect our thought from its present engagement. Hence we feel the pressure and the strain of struggle.

This can be very easily effected if we intensely love a person who is permanently established in the Subtlest.

Otherwise we have to take up one of the subtlest aspects of the Lord and meditate on it with the help of such a person.

The subtlest aspect taken up for meditation should be easy to conceive and safe to practise This can be only the All-pervasive Effulgence or the Luminous Pervasiveness of the Lord in the Heart.

As we think so we become. By constant thinking over the Subtlest Aspect we get to its realisation with the helping transmission of the Guide.

(7)

It is not the thoughtlessness state which we should aim at; but the thoughts rising in the mind-lake should be purified and set right. This purification and setting right is effected if we cooperate with the Master.

Cooperation means surrender to the Master with faith and confidence.

Intense love towards the Master brings this surrender quite easily and naturally.

(8)

When waves after waves surge in our heart we desire to prostrate ourselves at the blessed feet of the Master; we wish to clasp the Master's holy feet firmly; we begin to sing the stories about the Master; we get more and more pleasure in listening to the stories about the Master; we get strong urges to offer everything of ours to the Master; we become speechless and stupefied with the thought of the Master; in short we sell away our heart to the Master.

Then all desires except that of constant union with the Master bid farewell. We lose the body-consciousness and even the soul-consciousness, i. e. the thought about the Master too bids farewell.

We find that we can neither pray nor worship. We are swimming in a state of utter negation, so to say.

This is the culmination of Religion and Yoga.

❀❀:❀❀❀

Being and Becoming

(*Sat and Satya*)

[Dr. K. C. Varadachari M. A., Ph. D., Tirupati S. I.]

It has been said that in Spiritual life one must seek to increase being. One seems to be confronted with the fact that being and becoming are in inverse relation. In so far as one is seriously at knowing reality, thanks to very many distressing factors arising out of becoming or functions that one performs, one seeks to increase being. Thus the attempt at knowing being is more important than the knowledge of becoming. This poses a serious enough problem that the more one engages in the work of life one withdraws away from being and vice verse. The principle is excellently stated in another way. Every substance has a quality or many such qualities. The Sun or light for example has a substantial core as also a vast spread of its light-rays moving away from the centre. We shall not perhaps be right in holding that the centre itself is moving out or disintegrating into its many rays. But that is not the issue presently. The movement of ourselves has this twofold nature; one which is inward and central increasing awareness of being, and the other outward and losing awareness of being but gaining consciousness of becoming. This is expressed by saying that in Nature there is a dharmi and dharma relationship between these two: thus there is a dharmi-bhuta-jnana and there is related to

it and issuing from it as its power or function a dharma-bhuta-jnana. (If we conceive the ultimate as cit, then its movement will be cittta-vritti: cit will be dharmi; and citta-vritti, dharma-bhuta-jnana The language used is that of Sri Ramanuja).

Any epistemological enquiry or theory of knowledge seeks through the consciousness as 'function' to reach upto the consciousness as 'substance'. Knowledge-process is in respect of self a process of moving from circumference of consciousness-function to the centre of consciousness-substance. This is the reverse of the process of knowledge which seeks to know more about the consciousness as function, its possibilities of infinite extension, and other powers that issue from this. Consciousness-function is a stream, durational and enduring, and in Indian thought it has been said to be almost creative of all levels of consciousness that apprehends and makes matter. This question again is not very important whether consciousness 'makes' matter or reaches upto the levels of matter of all kinds. Knowing need not be a process that also makes, except that it may mean that what it knows it can use and enjoy.

The process of returning to the centre which has been feeding the consciousness through all its extensive movement is one important concern, for the farther one's consciousness moves away from the centre the being or centre seems to lose contact with its consciousness and becomes unconscious.

We have to distinguish between two kinds of

unconsciousness: (i) the unconsciousness that is mere becoming or extensive movement of consciousness with faintness of being-which is claimed to be the Inconscient in Sri Aurobindonian thought, and Matter by others that makes for this loss of substance awareness in becoming of the consciousness, and (ii) the unconsciousness that is a mere being which has given up all extensity and has returned to its substance. The deep sleep so called is of this second quality rather than the first. (This is prajna and even vijnana or the turya ?) The confusion between these has been a cause of great differences.

In yoga we seek to increase Being and reduce becoming: We increase dharmi or self-consciousness or awareness and reduce the object-consciousness (dharma). When it is said that one becomes omniscient, one almost always thinks of the objective consciousness, consciousness that has reached the limits of knowing All, including all inanimate or matter and animate being and their becomings too. But this is a siddhi that means the removal of all obstructions to the free extensive function of consciousness (function). As a siddhi or attainment this is said to be a godly attainment. However, omniscieuce should also include 'inner' knowing of All, including oneself and removal of all obstructions that prevent consciousness function from moving inward to the centre. This, as an attainment, is capable of being maintained only when there is equality of being and becoming. Mere Being is Sunya, as such void of all becoming, and is maximum in the Absolute, but it must not be thought that in that

condition or state becoming is utterly obstructed, which is one way of thinking about that state, for Being obstructs Becoming;–which is rather a peculiar way of explaining the situation of perfect Being. This is a peculiar kind of state which is a kind of absorption of becoming in Being, even as at the other end, it is absorption of being in Becoming. The aim of keeping the two in equilibrium as it were is the aim of normal life. (Is this a kind of samadhi–equal–awareness and equal-consciousness of Being and Becoming--a kind of peace ?) It is Being that grants śanti or peace, not Becoming which grants precarious joy. This tension of being and becoming is constant, and it is seen that unless one constantly sees Being in oneself increasing one does not feel that firmness and calmness that is the truth of Self.

Sahaja Marga of Sri Ram Chandra Ji Maharaj beautifully explains and leads one to this increase of Being and reduction of becoming, but this simple process cannot be achieved except by the Grace of the Master who inserts 'Being' into one's becoming and gives a continuous sañji in all that becomes and restores the inwardness of becoming to it and thus finally leads to Being which is Sat. In a sense, becoming is asat, though it is satya-that is made by sat which is Being. This unique way of Sri Ram Chandra Ji is a wonderful path to follow for one increasingly feels oneself standing more on the Rock of Being beyond the typhoons of becoming or consciousness.

❀ ❀ ❀

The Phenomenon of Samadhi*

(S. P. Srivastava, Y. D. College, Lakhimpur, Kheri)

INTRODUCTION.- Psychology had been an important subject of systematic study in ancient India. Fortunately in the present century of psychology there is again an increasing curiosity about the concepts and techniques used by the great psychologists of ancient India. These, however, are shrouded in a haze of mystery, and require to be made comprehensible at the level of reason and science. In the present paper an attempt to define and analyse the phenomenon of Samadhi, which constitutes the very core of the uniqueness of Indian psychology, has been made.

DEFINITION OF THE CONCEPT:- Samadhi has been given in the Yoga literature as the eighth and final stage in the process of God realisation or a direct experience of the ultimate nature of Reality. In this paper I will not go into the analysis and examination of the meaning of the goal of human life, set by the wise men of the hoary past, but I will confine our attempt to achieving, however inadequately, a phenomenological description of the final stage of the eight-fold-process, narrated in the Sadhana lierature of almost all the systems and schools of philosophy in India.

---

* Read at the meeting of the section of Psychology and Education of the 45th session of Indian Science congress at Madras.

Samadhi has been defined in Amrita Nadopanishad as "that state, when after having attained It (Supreme-Self)one looks upon himself as the Same (as That)".

But as it involves certain concepts which themselves require a phenomenological definition to suit the demands of the methodological grooves of modern psychology, I will not refer to such definition also. I will prefer to define Samadhi as a form of experience with all the cognitive, conative and affective aspects, and having certain functional consequences for the total personality of one who has undergone that experience. I dare to assert that there is almost no tinge of mysticism in this experience for one who sincerely takes up the experimental process, prescribed by the eminent psychologists of ancient India, under the guidance of a capable teacher (master).

METHOD:- The method of attaining the mental state is concentration of attention on the subtle nature of Reality in the form of an abstract thought provided by the trainer or guide. Concentration of attention on a single thought is difficult in the initial stages. Hence a competent master lays emphasis on meditation rather than concentration. The difference between the two lies in that the concentration emphasises the effortful attitude towards the trespassing thoughts, whereas meditation prescribes an attitude of indifference towards the intruding thoughts together with an attitude of affective attachment towards the single object of attention,

prescribed by the guide. This, of course, is the most effective method (prescribed by the Gita, Kabir and a modern system of Sadhana known as Sahaj Marga), although there are purely intellectualistic and analytical methods also (e. g. in Buddhism and Pre-Bhagawat systems.) Such practice of meditation introduces in many cases a mental state akin to sleep, with a cessation, or at least the lowering down of many sympathetic and para-sympathetic functions of the organism. This happens only in the initial stages and that too for short intervals, particularly at the time of meditation. But gradually two important developments begin to take place : (1) The mental state originally akin to sleep goes on developing into a wakeful experience of tensionless and passionless tranquility with a single centre of attention but without a forgetfulness of other objects which have to be attended to as a matter of automatic duty; (2) The experience does not remain confined to a particular moment but spreads to the entire course of daily life. This kind of a permanent continuous mental state is called 'Sahaj Samadhi'. It is not a subdivision of Samadhi but the final development of Samadhi, in general. A number of subdivisions of Samadhi had been given by certain Indian psychologists particularly by Patanjali, but I do not propose to go into those details just now, and pass on to the description of the cognitive, conative and affective aspects of the experience.

COGNITIVE ASPECT:-During the state of Samadhi sometimes there are extra-sensory perceptions and

para-normal cognitions; but the commoner and more important are the immediate apprehensions of the general principles and final solutions of knotty problems. The mysterious phenomenon of 'insight' is the worry of the contemporary sciences of psychology and education. A systematic study of the phenomenon of Samadhi promises to throw a great deal of light on the psychology of productive thinking and creative imagination.

AFFECTIVE ASPECT:- The state of Samadhi brings the pleasant experience of a feeling of a tensionless calm. Sometimes an excitement is also felt, but this excitement is so pleasant that one would rather prefer death than give up that experience of excitement. The affective aspect of the state of Samadhi cannot be described adequately in terms of any emotion, ordinarily experienced. The feeling is peculiar to the state of Samadhi and cannot be translated in terms of the feelings peculiar to other mental states. The chief characteristics of the feeling are (1) Pleasantness (2) Tensionlessness (3) Constructive and incremental character from the point of view of the bodily and mental health. Metaphorically the affective aspect of the mental state of Samadhi has been described with reference to the image of a waveless ocean remaining steady even when a thousand rivers pour their waters into it every moment, or to that of a flame in a place inaccessible to breezes. The facial expression of the feeling has been attempted to be portrayed so beautifully on the lips of the Buddha in Cave 1st of Ajanta and of Yogi Shiva in the Kailash Temple of Ellora. there

is nothing mysterious or fictitious about this feeling for those who should be sincere to take up the practices prescribed by the ancient sages for directly experiencing the pleasantness of the desireless calm connoted by the word 'Anandam'. A systematic study of this aspect of Samadhi promises to contribute a great deal towards the solution of the practical problems of emotional tensions in the life of both individuals and nations, which stare full in the face of humanity in this age of miraculous advancements in the field of physical sciences.

CONATIVE ASPECT:- The state of Samadhi is characterized by a calming down of the conflict of desires. The emphasis on the singleness of purpose being contained in the very method of attaining the state of Samadhi, the conflict of desires naturally goes on gradually decreasing. Consequently the individual experiences an increase in the strength of his will. The absence of tension and conflict, moreover, develops by and by a perfect harmony between the will of the individual and the course and demands of Nature herself. In other words the human motives do not remain blind forces compelling the individual to perform irrational behaviours and then feel shame or remorse. The motives gradually fall in harmony with one another and with the demands of the social and physical reality or 'Nature', if we may use a single far-more comprehensive term. This aspect is closely connected to the affective aspect on the one hand and with the total personality on the other. A systematic study of this aspect may contribute a great deal towards

the solution of the problems regarding the co-ordination and assignment of human motives to their proper position.

THE FUNCTIONAL RESULTS OF THE EXPERIENCE.

The experience of Samadhi has been declared unequivocally to bring about not only an intellectual satisfaction, but a transformation of the total personality of man. Generally one experiences a gradual adjustment and harmonization of the various aspects of ones personality with one another. Complexes, obsessions, characterological disorders etc. get gradually lossened and purged off. There is a tendency of the total personality towards a development in the direction of a socially acceptable, and even idealized personality. A planned control and guidence of human Personality is the dream and aspiration of psychology and education. A systematic study of the phenomenon of Samadhi offers a great promise towards the fulfillment of that aim.

CONCLUSION:-Thus we find a unique phenomenon whose systematic study is likely to revolutionise the entire field of psychology, and which promises to offer significant contributions towards the solution of many contemporary problems in the field of psychology and education. It is unfortunate that such a phenomenon should not engage the serious attention of sincere scientists, and be left to the realm of the occult. Difficulty of finding competent guides is no doubt there, but there are no hurdles that cannot be crossed over by men of sincere purposes and endeavours. ●●●

Experiences of an Abhyasi.

[Under this permanent column, the personal experiences of the Abhyasis of our system of Sadhana are published. The names of the Abhyasis, however, are not published with a view to exercising a check over the natural tendency to indulging in self-praise, while giving personal experiences. The Abhyasis are requested to try to emphasise only such matters and events, while writing for this column, as may be helpful in throwing light on the special characteristics of our system of Sadhana.—Editor]

One evening I found myself at Puja with a sister preceptor. Sitting with closed eyes did not prove tiresome. I had worked according to the advice of Gita to sit erect focussing the sight at the tip of the nose and trying to see the bright light of the Prana within. An ideal Yogi-to me–was Vivekanand standing bold and bright, and all this was the effect of awakening of the Serpent Power. This was all before I went to read in the universities. Modern intellectualism there blinded me with its glare. I was spell bound. But the magic did not work for long. My logic and reason lead me nowhereo I stood in a fix. My mind knew every way but feet had forgotten to tread. My brain started dissecting my own happiness and reduced it to shreds. Like was despair. Reason turned cynicism.

With such a motley inheritance I came to Mission. Books had proved endless strife. The practicability brought me to it. Who knew that all my quest was reaching its fruition !.

And I sat to meditate. A pressure, soft though powerful, was felt in a perpendicular across the

middle of the forehead. I kept sitting something pulsated at the tail-bone and crept upwards. Spine grew straight. Each and every vein of brain,exhausted previously by mental gymnastics, was, as it were, being massaged. After a while the pressure on the forehead melted into an incessant downpower of some current which filtered down to my lungs. With a peculiar pleasure of peace I sat basking into the new light. Puja came to an end. I felt light and blithe. All the weight of meddling intellect had melted away like a thin summer cloud. Lured by this experience, I started Puja.

Tables had turned My looks were cleared. Sitting in meditation was a massage and a thorough bath, which filled me with pure energy and freshness. Every sunrise was so lovely and full of promising hopes, every evening was so soothing, calm and serene. Day was time of natural work, Night was time of dreamless repose. Through every moment. new energy, new messages of something came to me. Day and night became an integral part like the flower that may shut to be a bud again. A vision of beatitude dawned upon me. The struggle of life blended into a rainbow-harmony. I felt happy to live. What a change ?.

The change beggars description. Our master once wrote, "How can you know your daily improvement. Child like a sapling grows every moment but he is unconscious of it. After a remarkable time when he compares to what he had been, he knows it". So was it with me. Hence I will

record only those moments which made me feel that I am now a pilgrim instead of a vagabond.

They talked to Love God-in Mission. Love to me was a momentary 'fever and fret'–a simple glorification of a sentiment. I always took it to be a weakness, a puerile sentimentalish feeling to be talked about, not to be practised. I knew that it was against my grains and boldly did I say to Master even that I was capable of doing everything but love. He listened to it and said nothing.

Then my maiden visit to my spiritual Almamater Shahjehanpur. Proud like a peacock I encountered a man humble and weak. Who knew that there stood the Original Power in flesh to receive me. Stuffed with genteel society manners I tried to fathom his mannerliness. I failed. This was my first knowledge of his limitlessness. The weak spent with him was a period of observation. True to the kindred points of Heaven and home ! At first his refined and rarefied transmission of spiritual power did not touch my gross heart to my knowledge, but soon I enjoyed the allevation and softness and lightness. The puja with him was a sleep and forgetting, a blessed mood—

In which the burthen of the mystery,
In which the heavy and weary weight
Of all this unintelligible world,
Is lightened:-that serene and blessed mood,
In which the affections gently lead us on—
Until, the breath of this corporeal frame

And even the motion of our human blood
Almost suspended, we are laid asleep
In body, and become a living soul :

Then there were some brothers from South. When I went to see them off at the railway station, big warm tears trickled down my cheeks. I was shocked and surprised and ashamed too. The same feeling which erewhile I had laughed at, was prevailing upon me. The hard crest on my heart had given way and a spring of fresh feelings was bubbling out. I was helpless.

And then I met my friends at university with whom I had sown wild oates. I told them of Mission of Master. They looked at me confused and burst forth–"You and religion ! How the poles are coming together !!"—But they sensed some power in me which had brought the Poles together and they accepted the veracity of my statement with amazement.

I felt fathomless depth in me. I felt like the fish that swims up and down fearlessly and happily. But it was not like the limited depth of the ocean; it was, rather, that of space in which innumerable planets and stars go on whirling but none reaches its end. I felt the silence of space in me. Thousands of suns and moons and stars all are singing and dancing , clouds soar and rain, winds scream and howl restlessly, days and nights open and shut their eyes—yet the blue remains undisturbed, reserved and pure. Space had merged in me or myself in space—I cannot tell, still the hustle and bustle of

great crowds, its confused din could not reach my ears. I gathered no impression inspite of meeting all and sundry and partaking laughter and tears of every soul. It is not for me to judge if I really deserved the following spiritual status as described in Gita

निर्ममो, निरहङ्कार: समदु:खसुख: क्षमी

but these words are best to reflect my condition. It is my conviction that Gita is more read than practised in our country, and, therefore, simple spiritual conditions described therein have become something impossible to achieve—simply to be wondered at. But our Mission is the university where Abhyasis get the degrees of Gita. When novices like me could have some air about it, what to talk of those who have far advanced !

Once I asked master : "what is the conception of man who has attained all the spiritual developments ?"Pat came the reply "Balanced" And therein lies the cure of diseased humanity to day. Modern man has become parts—especialised and hence the balance in him is gone, he lacks the harmony in his various activities. All abhyasis in our Missiona re gaining it and the day is not far off when the highly praised condition of स्थित धी in Gita will be attained by them by the grace of the Master.

How much to write ! Every breath of air gives life to the shoot of a plant, every dew drop quenches its thirst and every beam of light raises it up. I am growing as I am penning down these lines. How to

render it in words ! After my admittance in the Mission I felt myself better than many masquerading sadhus in safron robes. It brought a feeling of satisfaction as well as an apprehension of devilish pride. I submitted it before Master and today it has left me for good.

I cannot say that I have not erred since my Mission life has started. But now I have seen the polestar and have surrendered my oars to an unfailing guide. Haven be not for off. I am poor. O Master enrich me !

I can give not what men call love

But wilt thou accept not

The worship the heart lifts above

And heaven rejects not.

—An Abhyasi

render it in words ! After my admittance in the Mission I felt myself better than many masquerading sadhus in safron robes. It brought a feeling of satisfaction as well as an apprehension of devilish pride. I submitted it before Master and today it has left me for good.

I cannot say that I have not erred since my Mission life has started. But now I have seen the polestar and have surrendered my oars to an unfailing guide. Haven be not for off. I am poor. O Master enrich me !

I can give not what men call love

But wilt thou accept not

The worship the heart lifts above

And heaven rejects not.

—An Abhyasi

'सहज-मार्ग' पत्रिका के नियम

—:❀❀❀:—

१—'सहज मार्ग' प्रति वर्ष चार बार चैत्र, आषाढ़, अश्विन, पौष अथवा मार्च, जून, सितम्बर और दिसम्बर में प्रकाशित होता है।

२—'सहज मार्ग' का मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिक साधना पद्धति से सम्बन्धित गूढ़ रहस्यों का यथा सम्भव उपयुक्त प्रकाशन है।

३—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ आने वाले लेखों, कविताओं, कहानियों आदि का विषय मुख्यत: आध्यात्मिक एवं साँस्कृतिक होना चाहिए।

४—लेखों, कहानियों, कविताओं आदि के घटाने बढ़ाने, छापने या न छापने का पूर्ण अधिकार सम्पादक को रहेगा। लेखों आदि में प्रकाशित मत का उत्तरदायित्व सम्पादक पर नहीं, किन्तु स्वयं लेखक पर होगा।

५—प्रकाशनार्थ आने वाले लेख आदि देवनागरी अथवा रोमन लिपि में कागज के एक ओर शुद्ध एवं स्पष्ट रूप से लिखे या टाइप किये हुए होने चाहिए।

६—'सहज मार्ग' में प्रकाशनार्थ लेख इत्यादि निम्नांकित पते पर भेजे जाने चाहिए:—

सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव
गुप्ता भवन महराजनगर,
लमखीपुर-खीरी (उ० प्र०)

७—'सहज मार्ग' में श्री रामचन्द्र मिशन के अध्यक्ष की स्वीकृति प्राप्त विज्ञापन प्रकाशित हो सकते हैं। विज्ञापन की दर निम्नलिखित हैं:—

कवर का चौथा पृष्ठ पूरा ३०)	आधा १५)
अन्य साधारण पृष्ठ पूरा २०)	आधा १०)
	चौथाई ६)

८—'सहज मार्ग' का वार्षिक मूल्य ३) है, और एक प्रति का १)